गागर में सागर

श्री जिन तारणतरणस्वामी विरचित ज्ञानसमुच्चयसार की
४४, ५६, ७६ और ८६७वीं गाथाओं एवं
भगवान महावीर और उनकी अहिंसा पर

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के प्रवचन

सम्पादक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., बी. एड.
प्राचार्य, श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रथम चार संस्करण : १८ हजार ६००
(१८ मई १९८५ से अद्यतन)
पंचम संस्करण : ५ हजार
(१२ मार्च १९९८)
योग : २३ हजार ६००

मूल्य : सात रुपये मात्र

विषय-सूची	पृष्ठ
१. प्रकाशकीय	३
२. सम्पादकीय	५
३. गाथा ४४ पर प्रवचन	१७
४. गाथा ५९ पर प्रवचन	१९
५. गाथा ७६ पर प्रवचन	४१
६. गाथा ८९७ पर प्रवचन	५३
७. भगवान महावीर और उनकी अहिंसा	६५

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिंटर्स
जामा मस्जिद, दिल्ली

प्रकाशकीय

(पंचम संस्करण)

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के प्रवचनों पर आधारित 'गागर में सागर' पुस्तक का यह पंचम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अबतक चार संस्करणों के माध्यम से इसकी 18 हजार 600 प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। यह पाँचवां संस्करण 5 हजार की संख्या में मुद्रित किया जा रहा है। इसप्रकार यह कृति 23 हजार 600 की संख्या में समाज के हाथों में पहुंच जाएगी ।

डॉ. भारिल्ल के प्रवचनों को सम्पादित कर प्रकाशित करने का यह प्रथम प्रयास था; जो पूर्णतः सफल रहा तथा भरपूर सराहा गया । इस कृति के अन्त में प्रकाशित 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' नामक प्रवचन की लोकप्रियता को देखते हुए हमने उसे 'अहिंसाः महावीर की दृष्टि में' नाम से पृथक् से प्रकाशित किया है। जिसे हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी व गुजराती भाषा में 85 हजार की संख्या में विविध संस्करणों के माध्यम से अब तक प्रकाशित किया जा चुका है।

डॉ. भारिल्ल उन प्रतिभाशाली विद्वानों में से हैं; जो आज सर्वाधिक सुने और पढ़े जाते हैं। वे न केवल लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कुशल अध्यापक ही हैं; अपितु सिद्धहस्त लेखक, कुशल कथाकार, सफल सम्पादक एवं आध्यात्मिक कवि भी हैं।

साहित्य व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी गति अबाध है। तत्वप्रचार की गतिविधियों को निरन्तर गति प्रदान करने वाली उनकी नित नई सूझ-बूझ, अद्भुत प्रशासनिक क्षमता एवं पैनी पकड का ही परिणाम है कि आज जयपुर आध्यात्मिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन गया है।

आपने 'क्रमबद्धपर्याय' 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' तथा 'समयसार अनुशीलन' जैसी गूढ़ दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने वाली कृतियाँ भी लिखी; जिन्होंने आगम एवं अध्यात्म के गहन रहस्यों को सरल भाषा एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत कर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा व्याख्यायित जिन सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यही कारण है कि पूज्य स्वामीजी की उन पर असीम कृपा रही । वे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा करते थे कि ***'पण्डित हुकमचन्द का वर्तमान तत्त्व प्रचार में बडा हाथ है।'***

उत्तम क्षमादि दश धर्मों का विश्लेषण जिस गहराई से आपने 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक में किया है, उसने जन सामान्य के साथ-साथ विद्वद्वर्य का भी

मन मोह लिया । इसे पढकर वयोवृद्ध व्रती विद्वान स्व. पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कह उठे थे कि *'डॉ. भारिल्ल की लेखनी को सरस्वती का वरदान है।'*

'सत्य की खोज' 'तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' 'मैं कौन हूँ' 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व', 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम', 'पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव' 'निमित्तोपादान' एवं 'आप कुछ भी कहो' भी अपने-आप में अद्भुत कृतियाँ हैं। बारह भावना : एक अनुशीलन पुस्तक में अनित्यादि बारह भावनाओं पर गम्भीर आध्यात्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके साथ-साथ आपने अध्यात्मरस से सराबोर सुन्दरतम पद्यमय बारह भावनाऐं भी लिखी हैं; जो बारह भावना एक अनुशीलन में तो प्रकाशित हैं ही, तथापि पाठ करने वालों की सुविधा की दृष्टि से उन्हें बारह भावना के नाम से पृथक से भी प्रकाशित किया गया है। इसीप्रकार जिनेन्द्र वंदना, कुन्दकुन्द शतक, शुद्धात्म शतक, योगसार पद्यानुवाद, समयसार पद्यानुवाद तथा अभी हाल ही में प्रकाशित समयसार कलश पद्यानुवाद आपकी लोकप्रिय पद्यात्मक कृतियाँ हैं; जिनकी संगीतमय ओडीयो कैसिटें भी निर्मित की गई हैं, जो समाज में काफी लोकप्रिय हैं ।

यह तो सर्व विदित ही है कि डॉ. भारिल्ल जी तत्वप्रचार की दृष्टि से सन् 1984 से प्रतिवर्ष विदेश यात्रा पर जाते हैं; विदेश में हुए व्याख्यानों के आधार पर आपने 'आत्मा ही है शरण' कृति का निर्माण किया, जो अब तक 24 हजार 200 की संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं। यह कृति भी सफलता के मापदण्ड स्थापित कर चुकी है। आपके विषय में विशेष क्या लिखें - निश्चित ही आपको सरस्वती का वरदान प्राप्त है । आपका सम्पूर्ण साहित्य आत्म हितकारी होने से बार-बार पढ़ने योग्य है।

इस कृति के सम्पादन में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तथा प्रकाशन व्यवस्था में अखिल बंसल का प्रशंसनीय सहयोग रहा है, तदर्थ हम आपके हृदय से आभारी हैं। जिन महानुभावों ने इस कृति की कीमत कम करने हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया है; वे सब भी धन्यवाद के पात्र हैं।

सभी आत्मार्थी इस कृति के माध्यम से आध्यात्मिक चेतना जागृत कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें इसी भावना के साथ –

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री

सम्पादकीय

भारतीय इतिहास में धार्मिक और सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव की दृष्टि से १६वीं सदी सबसे अधिक उथल-पुथल की सदी रही है। उस समय शासकों के धार्मिक उन्माद भरे अत्याचारों से समस्त हिन्दू एवं जैन समाज अत्यधिक आक्रान्त और आतंकित हो रहा था। उसके साधना और आराधना के केन्द्र निर्दयतापूर्वक नष्ट-भ्रष्ट किये जा रहे थे। धर्मायतनों की सुरक्षा चिन्तनीय हो गयी थी।

जहाँ जैनों का प्रचुर पुरातत्त्व यत्र-तत्र बिखरा हुआ था, उस मध्य प्रान्त और बुन्देलखण्ड के सुरम्य क्षेत्रों में यवन शासकों का विशेष आतंक था। वहाँ की जैन समाज अपने धर्मायतनों की सुरक्षा के लिए विशेष चिन्तित थी। यह आवश्यकता अनुभव की जा रही थी कि क्यों न कुछ काल के लिए अपने आराध्य अवशेषों को सुरक्षित गुप्त गर्भ-गृहों में छुपा दिया जावे और इसके स्थानापन्न जिनवाणी का आलम्बन लेकर अध्ययन-मनन-चिन्तन द्वारा आत्मा-परमात्मा की आराधना – उपासना की जावे और अपने धर्म का पालन किया जावे।

विचार तो उत्तम थे; परन्तु इनका क्रियान्वयन किसी प्रतिभावान, प्रभावशाली व्यक्तित्व के बिना संभव नहीं था; क्योंकि अधिकांश जनता आत्मज्ञानशून्य केवल पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, दान-पुण्य आदि बाह्य क्रियाओं को ही धर्म माने बैठी थी। उसमें ही धर्म का स्वरूप देखने-समझनेवालों को यह बात समझाना आसान नहीं था कि ये धर्मायतन तो धर्मप्राप्ति के बाह्य साधन मात्र हैं, सच्चा धर्मायतन तो अपना आत्मा ही है और वह आत्मा अविनाशी तत्त्व है, उसे कोई ध्वस्त – नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर सकता।

एक ओर बाहरी उपद्रवों का संकट था और दूसरी ओर आन्तरिक अज्ञानता का हठ। स्थिति तो विकट थी; परन्तु आवश्यकता को आविष्कार की जननी कहा जाता है – मानो इस उक्ति को सार्थक करते हुए ही तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति हेतु एक ऐसी प्रतिभा का उदय हुआ, जिसमें पुण्य और पवित्रता का मणि-कंचन योग तो था ही, साथ ही उसमें उद्दाम काम और क्रोधादि कषायों को जीतने की भी अद्भुत क्षमता थी तथा उसकी वाणी में भी ऐसा जादू था कि आन्तरिक

अज्ञान और बाहरी उपद्रवों की दुहरी समस्या को सुलझाने में भी वह सफल रही। उस प्रतिभा का नाम था – "श्री जिन तारणतरणस्वामी"। जिन्हें संक्षेप में 'तारणस्वामी' भी कहा जाता है।

श्री तारणस्वामी ने तत्कालीन परिस्थितियों में आत्मोन्नति और धर्म के उत्थान के लिए जिनवाणी की आराधना के द्वारा तत्त्वज्ञान के अभ्यास पर विशेष बल दिया तथा जिनवाणी की उपासना को ही मुख्य रखकर शेष क्रिया-काण्ड को गौण किया। यह एक बहुत बड़ा क्रान्तिकारी कदम था। इससे जहाँ एक ओर आन्तरिक अज्ञान हटा, वहीं दूसरी ओर क्रिया-काण्ड का आडम्बर भी कम हुआ तथा ध्वस्त अवशेषों पर आँसू बहानेवाले भावुक भक्तों के हृदय को जीतने के लिए उन्होंने उनके आँसू पोंछते हुए उनसे कहा कि सच्चा धर्मायतन तो तुम्हारा आत्मा स्वयं ही है, जिसे कोई कभी ध्वस्त नहीं कर सकता, तुम तो अपने चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की शरण में जाओ, वही निश्चय से सच्चा शरणभूत है, वह साक्षात् कारणपरमात्मा है, उसी के आलम्बन से अबतक हुए सब अरंहत व सिद्धस्वरूप कार्यपरमात्मा बने हैं।

कहा भी है :–

"चिदानन्द चितवनं, येयनं आनंदं सहाव आनंदं।
कम्ममल पयदि खिपनं, ममल सहावेन अन्योय संजुतं॥

ज्ञान और आनंदमयी आत्मा का मनन करना चाहिये, क्योंकि इसी से ज्ञानानन्द की या स्वाभाविक आत्मसुख की प्राप्ति होती है और इस आनन्द सहित शुद्ध स्वभाव के अनुभव से ही कर्मकलंक की प्रकृतियाँ भी क्षय को प्राप्त हो जाती हैं।"[1]

तथा :–

ओं नमः विन्दते जोगी, सिद्धं भवत शास्वतम्।
पण्डितो सोऽपि जानन्ते, देवपूजा विधीयते॥

'ओम्' शब्द में पंचपरमेष्ठी गर्भित हैं। जो इन पंचपरमेष्ठी को अपनी आत्मा में ही अनुभव करते हैं, वे ही शाश्वत सिद्ध पद को पाते हैं; क्योंकि ओम् ही ब्रह्म है, यही सच्चा धर्मायतन है, यही सच्ची देवपूजा है; अतः इसी की आराधना करो, इसको कौन ध्वस्त कर सकता है?[2]

---

[1] कमल बत्तीसी श्लोक १३

[2] पण्डित पूजा, श्लोक ३

इसीप्रकार और भी अनेक स्थलों पर देव-शास्त्र-गुरु को बाहर में न देखकर अन्तर आत्मा में देखने की प्रेरणा देकर बाहर में हुवे उपद्रव से चित्त हटाकर और अन्तर आत्मा का यथार्थ ज्ञान देकर आत्मज्ञान सम्बन्धी अज्ञान हटाया है।

बस फिर क्या था, मानों डूबतों को तारणहार मिल गया और इधर तारणस्वामी के भी एक साथ दो काम बन गये। एक ओर तो जो तत्त्वज्ञान से शून्य थे, केवल बाह्य क्रिया-काण्ड में ही अटके थे; उन्हें तत्त्वदृष्टि मिली तथा दूसरी ओर अपने परमपूज्य आराधना के केन्द्र-स्थल वीतरागी जिनबिम्ब और जिनमन्दिरों के विध्वंस से जो आकुल-व्याकुल थे; उनको व्याकुलता कम हुई, उनका मानस पलटा।

इसप्रकार दुखसागर में निमग्न प्राणियों ने शांति की साँस ली।

लगता है उन्हें अपना तारणतरण मानकर उनके अनुयायियों ने ही उनका यह "श्री जिन तारणतरणस्वामी" नाम प्रचलित किया, जिसे बाद में धीरे-धीरे उन्हें भी वह नाम स्वीकृत हो गया।

जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा भी है :—

"जिनउवएसं सारं किंचित् उवएस कहिय सद्भावं।
तं जिनतारण रहयं कम्मक्षय मुक्ति कारणं सुद्धं॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान का जो उपदेश है, उसके कुछ अंश को लेकर 'जिनतारण' नाम से प्रसिद्ध मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है।"[1]

उनके नाम में जो 'श्री जिन' विशेषण लगा है, वह निश्चय ही जिनेन्द्र भगवान के अर्थ में नहीं है, परन्तु जिनेन्द्र के भक्त के अर्थ में अवश्य है तथा दिगम्बर मुनि से वे एदेकश जितेन्द्रिय होने से जिनेन्द्र के लघुनन्दन तो थे ही तथा चौथे गुणस्थान वाले को भी जिनवाणी में 'जिन' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

दिगम्बर आचार्य परम्परा के शुद्धाम्नायी संत मुनि श्री तारणस्वामी निःसंदेह एक महान क्रान्तिकारी युगपुरुष थे। वे बचपन से ही उदासीन वृत्तिवाले थे। कहा जाता है कि उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे यौवनारम्भ से ही शाश्वत शान्ति की खोज में सांसारिक सुखों के मोह का परित्याग करके विंध्य भूमि की ओर चले गये थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में वे मल्हारगढ़ (म० प्र०) के समीप बेतवा नदी के निकट

[1] ज्ञानसमुच्चयसार, श्लोक ६०६

पावन वनस्थली में आत्मसाधनारत रहे। वहीं पर उन्होंने १४ ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने ६० वर्ष की उम्र में दिगम्बरी मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। ६७ वर्ष की उम्र में वे दिवंगत हो गये थे।

आज उनके अनुयायी समैया या तारण समाज के नाम से जाने-पहचाने जाते हैं। तारण समाज का परिचय देते हुए ब्रह्मचारी स्वर्गीय श्री शीतलप्रसादजी ने लिखा है कि – "ये चैत्यालय के नाम से सरस्वती भवन बनाते हैं। वेदी पर शास्त्र विराजमान करते हैं। यद्यपि इनके यहाँ जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा रखने व पूजन करने का रिवाज नहीं है; तथापि ये लोग तीर्थयात्रा करते हैं, मन्दिरों में यत्र-तत्र प्रतिमाओं के दर्शन भी करते हैं।"[१]

पूज्य तारणस्वामी के ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट भासित होता है कि उन पर कुन्दकुन्द स्वामी का काफी प्रभाव था। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। योगीन्दुदेव के परमात्मप्रकाश व योगसार भी उनके अध्ययन के अभिन्न अंग रहे होंगे। निश्चय ही तारणस्वामी कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के ज्ञाता थे। उन्होंने यत्र-तत्र विहार करके अपने अध्यात्मगर्भित उपदेश से जैनधर्म का प्रचार किया।

श्री तारणस्वामी के विषय में एक यह किंवदन्ती प्रचलित है कि उनके उपदेश से पूरी "हाट" अर्थात् हजारों जैनाजैन जनता उनकी अनुयायी बन गयी थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वे स्वयं तो परवार जातीय दिगम्बर जैन थे और उनके अनुयायी तारण समाज में आज भी अनेक जातियों के विभिन्न गोत्रों के लोग सम्मिलित हैं।

कहा भी जाता है कि उनके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच लाख तिरेपन हजार तीन सौ उन्नीस (५,५३,३१९) व्यक्तियों ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया था। उनके निम्नांकित प्रमुख शिष्यों में विभिन्न वर्ग और जातियों के नाम हैं, जैसे:– लक्ष्मण पाण्डे, चिदानन्द चौधरी, परमानन्द विलासी, सत्यासाह तैली, लुकमान शाह मुसलमान।

इसप्रकार हम देखते हैं कि तारणस्वामी जाति, धर्म एवं ऊँच-नीच वर्ग के भेद-भाव से दूर उदार हृदय वाले संतपुरुष थे तथा वे

---

[१] तारणतरण श्रावकाचार भूमिका, पृष्ठ ४

रूढ़िवादी परम्परा और पाखण्डवाद पर जीवन भर चोट करते रहे। देखिये उन्हीं के शब्दों में :—

"जाइकुलं नहु पिच्छदि शुद्ध सम्मत्त दर्शनं पिच्छई।

जाति और कुल से नहीं, बल्कि शुद्ध सम्यग्दर्शन से ही पवित्रता और बड़प्पन आता है।"[1]

आपके ग्रन्थों में अलंकारों की दृष्टि से रूपकों की बहुलता है :—

"स्नानं च शुद्ध जलं" — यहाँ शुद्ध आत्मा को ही शुद्ध जल मानकर यह कहा है कि जो शुद्ध आत्मा में लय हो जाता है, वही सच्चे जल में स्नान करता है।[2]

तथा :—

"ध्यानस्य जलं शुद्धं ज्ञानं स्नानं पण्डिता" — अर्थात् पण्डित जन आत्मज्ञानरूप शुद्ध जल से ध्यान का स्नान करते हैं।[3]

तथा :—

"ज्ञानं मयं शुद्धं, स्नानं ज्ञानं पण्डिता" — अर्थात् ज्ञानमयी शुद्ध जल में ही पण्डित जन स्नान करते हैं।[4]

स्व० डॉ० हीरालाल जैन ने सन्त तारणस्वामी की रचना, शैली एवं भाषा और विषयवस्तु पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है।

वे लिखते हैं :—

इन ग्रन्थों की भावभंगी बहुत कुछ अटपटी है। जैनधर्म के मूल सिद्धान्त और अध्यात्मवाद के प्रधान तत्त्व तो इसमें स्पष्ट झलकते हैं। परन्तु ग्रन्थकर्ता की रचनाशैली किसी एक सांचे में ढली और एक धारा में सीमित नहीं है।.....विचारों का उद्रेक जिसप्रकार जिस ओर चला गया, तब वैसा ग्रथित करके रख दिया तथा इस कार्य में उन्होंने जिस भाषा का अवलम्बन लिया है, वह तो बिल्कुल निजी है। .....न वह संस्कृत है, न कोई प्राकृतिक अपभ्रंश है और न कोई देशी प्रचलित भाषा है। मेरी समझ में तो उसे "तारनतरन भाषा"

---

[1] उपदेश शुद्धसार, गाथा १५३

[2] पण्डित पूजा, गाथा ८ का अंश

[3] वही, गाथा ६ का अंश

[4] वही, गाथा १० का अंश

ही कहना ठीक होगा। जो गहन व मनोहर भाव उनमें भरे हैं, उनका उक्त अटपटी शैली के कारण पूरा लाभ उठाया जाना कठिन है।"[१]

स्वर्गीय पं० परमेष्ठीदासजी का भी इस संबंध में यही मत है :–

"·····जिन्होंने अपनी निराली भाषा शैली में उच्चतम आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण किया।·····उन श्री तारण स्वामी द्वारा रचित सूत्रों और गाथाओं का यथार्थ अर्थ समझ पाना कठिन काम है, क्योंकि उनकी भाषा-शैली अलग प्रकार की है।·····वर्तमान युग में आध्यात्मिक महापुरुषों में श्री कानजी स्वामी का नाम प्रमुख है, उन्होंने श्री तारणस्वामी के अध्यात्म ज्ञान की महिमा गायी है और उनकी अध्यात्म वाणी पर प्रवचन भी किये हैं, जो अष्टप्रवचन के नाम से दो भागों में प्रकाशित भी हो चुके हैं।"[२]

प्रस्तुत "गागर में सागर" पुस्तक उन्हीं परमपूज्य श्री जिन तारण तरण स्वामी विरचित ज्ञानसमुच्चयसार ग्रन्थ की कतिपय महत्त्वपूर्ण गाथाओं पर हुये डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के प्रवचनों का संकलन है।

इसी वर्ष तारण जयन्ती के अवसर पर डॉ० भारिल्ल द्वारा सागर में ये प्रवचन हुये थे, श्रीमन्त सेठ भगवानदासजी की भावना के अनुसार उनके ज्येष्ठ पुत्र, लोकसभा सदस्य श्री डालचन्दजी जैन ने इस पुस्तक का सम्पादन करने के लिए मुझसे अनुरोध किया। मुझे प्रसन्नता है कि इस निमित्त से मुझे श्री जिन तारणस्वामी को भी निकट से समझने का अवसर मिला।

ज्ञानसमुच्चयसार की कतिपय महत्त्वपूर्ण गाथाओं पर हुये डॉ० भारिल्ल के प्रस्तुत प्रवचनों को पढ़कर ऐसा लगा कि अहो! ऐसी महान आध्यात्मिक गूढ़तम गाथायें, जिन्हें जनसाधारण के द्वारा समझ पाना अत्यन्त कठिन कार्य है, उन्हें इतनी सरल भाषा और सुबोध शैली में जन साधारण के गले उतार देना हर एक के वश की बात नहीं है। डॉ० भारिल्ल जैसा ही कोई कुशल प्रतिभावान समर्थ प्रवचनकार इस दुरूह कठिन कार्य को कर सकता है।

कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र जैसे आचार्यों को समझना फिर भी आसान है, क्योंकि उनकी भाषा व्याकरण-सम्मत विशुद्ध प्राकृत और

---

[१] तारणतरण श्रावकाचार भूमिका, पृष्ठ ४ (सन् १९८०)

[२] ज्ञानसमुच्चयसार की भूमिका

संस्कृत है: परन्तु श्री जिन तारणतरणस्वामी की भाषा तो बड़ी ही अटपटी है, अतः इनको समझना आसान नहीं है तथा इनके ग्रन्थों पर किसी समर्थ आचार्यों या विशिष्ट विद्वानों की कोई विस्तृत टीकायें भी नहीं हैं। स्वर्गीय ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी ने जो प्रयास इस क्षेत्र में किया है, वह स्तुत्य है; परन्तु वह बहुत संक्षिप्त सारांश या भावार्थ के रूप में ही है। स्वल्प मतियों के हिसाब से उसमें अब भी विस्तार की बहुत गुंजाइश है।

डॉ० भारिल्ल के द्वारा हुये प्रस्तुत प्रवचनों को देखने से ऐसा लगता है कि इस बड़ी भारी कमी की पूर्ति बहुत कुछ अंशों में इसप्रकार के प्रवचनों से संभव है; अतः ऐसे सरल, सुबोध प्रवचनों का अधिक से अधिक प्रकाशन होना चाहिये, ताकि सामान्यजन लाभान्वित हो सकें।

डॉ० भारिल्ल के प्रवचनों को पढ़कर या सुनकर साधारण से साधारण व्यक्ति तारणस्वामी के भावों तक पहुँच सकता है। उनके प्रवचनों की यह खास विशेषता है कि उनका कोई भी श्रोता हताश होकर खाली हाथ नहीं लौट सकता। कठिन से कठिन विषयों के प्रवचनों में भी कोई थकान या ऊब अनुभव नहीं कर सकता।

आज सारे भारत में ऐसा कौन तत्त्वरसिक है, जो डॉ० भारिल्ल की प्रवचनशैली से परिचित न हो। उनकी लेखनशैली तो सशक्त है ही, प्रवचनशैली भी ऐसी है कि जिसमें आबाल-वृद्ध, पढ़-अनपढ़ सभी एकरस होकर उनके प्रवचनों से लाभान्वित होते हैं।

वे इस मोहक, प्रभावक और रहस्योद्घाटक शैली के कारण इतने लोकप्रिय हुये हैं कि जो एक बार उन्हें सुन लेता है, वह बार-बार सुनना चाहता है।

जहाँ उनमें ऐसी क्षमता है कि वे एक ही व्याख्यान को कोमा, फुलस्टाप सहित वैसा का वैसा रिपीट कर सकते हैं, पुनरावृत्ति कर सकते हैं; वहीं उनमें ऐसी भी क्षमता है कि वे एक ही विषय पर २५ प्रवचन भी करें तो भी विषयान्तर हुये बिना पुनरावृत्ति नहीं होगी। यही कारण है कि उन्हें सुनने के लिए विदेशों से भी आमंत्रण आते हैं। गत वर्ष वे ब्रिटेन, अमेरिका आदि अनेक यूरोपीय देशों में जाकर आये हैं। इस वर्ष भी उनका पुनः दो माह का विदेश यात्रा का कार्यक्रम है।

अब तक उनके द्वारा लिखित २७ पुस्तकें अनेक भाषाओं में तेरह लाख से भी अधिक संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं।

यह पहला प्रयोग है, जब उनके प्रवचनों को सम्पादित करके पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है, परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि उनके लेखन से भी उनके प्रकाशित प्रवचन अधिक लोकप्रिय होंगे; क्योंकि लेखन में तुलनात्मक दृष्टि से भाषा-शैली फिर भी दुरूह हो जाती है, किन्तु प्रवचनों में यह शिकायत नहीं रहती।

पंचकल्याणक प्रसंगों पर एवं शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों में तथा महावीर जयन्ती आदि प्रसंगों पर हुये उनके प्रवचन भी प्रकाशित होने चाहिये; किन्तु यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि प्रस्तुत प्रवचनों से पाठक कितना लाभ उठाते हैं ? तथा कैसी/क्या आवश्यकता अनुभव करते हैं ?

प्रवचनकार के मुख से प्रवचनों को प्रत्यक्ष सुनने का लाभ तो अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है ही, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में देशनालब्धि को ही निमित्त कहा है, पढ़ने को नहीं; किन्तु उन्हीं प्रवचनों को पुस्तक के माध्यम से पढ़ने का आनन्द भी कोई जुदी जाति का होता है। वे एक-दूसरे के पूरक तो हो सकते हैं, किन्तु एक-दूसरे की पूर्ति नहीं कर सकते।

जहाँ प्रत्यक्ष सुनने में वाणी के सिवाय वक्ता के हाव-भाव भी समझने में सहयोगी होते हैं, वहीं चित्त की चंचलता एवं आस-पास का वातावरण उसमें बाधक भी कम नहीं होता तथा नाना प्रकार के श्रोताओं के कारण वक्ता को भी विस्तार बहुत करना पड़ता है, अतः अधिक समय में बहुत कम विषयवस्तु हाथ लगती है।

प्रकाशित प्रवचनों में यद्यपि वक्ता के हाव-भावों का लाभ नहीं है, परन्तु उन्हें शान्ति में चित्त स्थिर करके एकान्त से बैठकर पढ़ा जा सकता है, एक बार समझ में न आये तो बार-बार भी पढ़ा जा सकता है तथा प्रवचन में वक्ता के साथ अपने उपयोग को दौड़ाना पड़ता है, जो बात सुनने-समझने या ग्रहण करने से रह गई, सो रह गई; क्योंकि वहाँ पुनरावृत्ति का कोई अवसर नहीं रहता।

प्रकाशित प्रवचनों के सम्पादन में अनावश्यक कलेवर, जो केवल जनता को कन्ट्रोल में रखने के लिए या उसके मनोरंजन के लिए बोला

जाता है अथवा सरल करने के लिए विस्तृत उदाहरणमाला बीच-बीच में आ जाती है; उसे आवश्यकतानुसार या तो हटा ही दिया जाता है, अन्यथा बहुत कम कर दिया जाता है। साथ ही प्रकाशित प्रवचनों में भाषा भी परिमार्जित हो जाती है एवं विषयवस्तु भी एकदम व्यवस्थित हो जाती है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर प्रकाशित प्रवचन भी अपनी जगह एकदम पठनीय और संग्रहणीय बन जाते हैं। अतः जिन्होंने प्रस्तुत प्रवचनों को प्रत्यक्ष सुनकर आनन्द लिया है, वे भी विशेष लाभ के लिए इन्हें अवश्य पढ़ें।

ज्ञानसमुच्चयसार पर हुए प्रवचनों के अतिरिक्त अन्त में 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' नामक एक व्याख्यान भी संकलित है। ध्यान रहे जब सागर में ज्ञानसमुच्यसार पर प्रवचन हुए थे, तभी अहिंसा पर भी उनके दो व्याख्यान हुए थे – एक विश्वविद्यालय में और एक कटरा बाजार की आमसभा में।

डॉ० भारिल्ल का अहिंसा सम्बन्धी यह व्याख्यान इतना लोकप्रिय है कि विगत दश वर्षों में वे इसे विभिन्न स्थानों पर शताधिक बार दोहरा चुके हैं, फिर भी इसकी माँग निरन्तर बनी ही रहती है। वे जहाँ भी जाते हैं, उन्हें एक व्याख्यान इस विषय पर देना ही पड़ता है। यह इतना सारगर्भित और रोचक है कि जनता बार-बार सुनना चाहती है, अनेक बार सुन लेने के बाद भी मंत्रमुग्ध होकर सुनती है।

यद्यपि यह व्याख्यान इतना लम्बा है कि एक घण्टे में समाप्त होना सम्भव नहीं है, अतः वे इसे स्थान और समयानुसार छोटा-बड़ा करते रहते हैं ; पर हमने उसे सम्पूर्ण ही प्रकाशित किया है – इस कारण यह लम्बा भी बहुत हो गया है, पर हम क्या कर सकते हैं; क्योंकि इसमें सम्पादन की कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

इसके प्रकाशन की माँग बहुत दिनों से तेजी से चल रही थी। इस कृति के माध्यम से वह भी पूर्ण होगी।

टेप-कैसिटों से संग्रहीत इन प्रवचनों का सम्यक् प्रकार से सम्पादन और परिमार्जन करके इनके प्रवक्ता डॉ० भारिल्ल को एक बार पुनः दिखा लिया गया है। उन्होंने भी इनमें कुछ आवश्यक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन किया है। इसप्रकार यह संकलन एक प्रकार से सर्वांग हो गया है।

फिर भी यदि इन्हें पढ़ते समय पाठकों को कहीं कोई बात, योग्य सुझाव ध्यान में आवे तो हमें अवश्य ही लिखें, जिससे यदि आवश्यक प्रतीत हुआ तो पुनः प्रकाशन में ठीक किया जा सके।

आशा है, पाठक इससे लाभ उठायेंगे। — रतनचन्द भारिल्ल

ममात्मा ममलं शुद्धं

श्री ज्ञानसमुच्चयसार की गाथा नं० ४४ के ४ और ४ मिलकर ८ होते हैं। इस गाथा के द्वारा श्री भारिल्लजी ने 'अष्ट प्रवचन' का सार और श्री कानजी स्वामी का उपकार स्मरण कराते हुए आत्मा की अद्भुत अनुभूति का रसास्वादन कराया है।

तथा इसी महान ग्रन्थ की गाथा नं० ५६ के ५ और ६ मिलकर १४ होते हैं। इस गाथा के द्वारा आपने श्री तारण स्वामी के १४ ग्रन्थों का सार अमूर्त शुद्धात्मा को अपनी सहज सुन्दर शैली में श्रोता के ज्ञान में प्रतिष्ठित किया है।

आपके ये प्रवचन एकत्व-विभक्त उस भगवान आत्मा की उपलब्धि में सबको सहायक – निमित्त बनकर स्वरूप में पहुँचने के लिए प्रकाश-स्तंभ का कार्य करेंगे।

इस महान उपकार के लिए प्रत्येक मुमुक्षु आपका सदैव आभारी रहेगा।

होशंगाबाद
२१-४-८५

– ब्र० जयसागर

डॉ० भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व [हिन्दी]	११.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी]	६.००
३.	धर्म के दशलक्षण [हि., गु., म., क., तमिल, अंग्रेजी]	५.००
४.	क्रमबद्धपर्याय [हि., गु., म., क., त.]	४.००
५.	सत्य की खोज [हि., गु., म., त., क.]	५.००
६.	जिनवरस्य नयचक्रम्	५.००
७.	बारह भावना : एक अनुशीलन	५.००
८.	बारह भावना	१.००
९.	गागर में सागर	४.००
१०.	आप कुछ भी कहो [हिन्दी, कन्नड़]	३.००
११.	मैं कौन हूँ ? [हि., गु., म., क., त., अंग्रेजी]	१.२५
१२.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु., म., क., त.]	२.००
१३.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हि., गु., म., क., त., अ., ते., अं.]	०.५०
१४.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका [हिन्दी]	४.००
१५.	अर्चना (पूजन संग्रह) [हिन्दी]	०.५०
१६.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	०.४०
१७.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु.]	०.२५
१८.	चैतन्य चमत्कार	१.००
१९.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	१.२५
२०.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., त., बं., अ.]	१.००
२१.	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.]	१.००
२२.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अं.]	१.००
२३.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२५.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अंग्रेजी]	१.२५
२६.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	१.४०

संपादित प्रकाशन

१.	मोक्षमार्गप्रकाशक	८.००
२.	प्रवचनरत्नाकर भाग १, २, ३, ४	प्रत्येक १०.००
३.	ज्ञानगोष्ठी	६.००
४.	परमार्थवचनिका प्रवचन	२.००
५.	वीतराग-विज्ञान (मासिक) : आजीवन शुल्क १२५) वार्षिक शु.	१२.००

गागर में सागर

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ४४ पर प्रवचन

(मंगलाचरण)

जो एक शुद्ध विकारवर्जित अचल परमपदार्थ है।
जो एक ज्ञायकभाव निर्मल नित्य निज परमार्थ है॥
जिसके दरश व जानने का नाम दर्शन-ज्ञान है।
हो नमन उस परमार्थ को जिसमें चरण ही ध्यान है॥

यह "ज्ञानसमुच्चयसार" नामक अध्यात्म-ग्रन्थ है। इसे आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व आत्मानुभवी दिगम्बर संत श्री तारणस्वामी ने लिखा था। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार के समान ही यह ग्रन्थ भी अध्यात्मरस से सरावोर है। तारणस्वामी के ग्रन्थों पर आचार्य कुन्दकुन्द का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

तारणस्वामी ने इस ग्रन्थ में गागर में सागर भर दिया है। बड़े ही सौभाग्य की बात है कि आज हम अध्यात्म-अमृत के सागर से भरी इस गागर के मुख को सागर में ही खोल रहे हैं और इस गागर में समाहित अमृतसागर का रसपान लगातार पाँच दिन तक करेंगे। तारण-जयन्ती का यह स्वर्ण अवसर हम सभी को सदा याद रहेगा।

तारणस्वामी का सच्चा परिचय हमें गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा उनके ग्रन्थों पर किए गए प्रवचनों से प्राप्त हुआ था। अष्ट-प्रवचन नाम से अनेक भागों में प्रकाशित उनके प्रवचनों से ही तारणस्वामी के ग्रन्थों के पढ़ने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई।

यह "ज्ञानसमुच्चयसार" ग्रन्थ न केवल तारण समाज का, अपितु संपूर्ण जैन समाज की अमूल्य सम्पत्ति है, जिसे आजतक हमने खोलकर भी नहीं देखा। तारणस्वामी ने इसमें ऐसी-ऐसी सुन्दर बातें लिखी हैं कि सारा जैन समाज आँख खोलकर देखे तो उसे मालूम पड़े कि तारणस्वामी क्या थे ?

इस ग्रन्थ में अनेक गाथाएँ तो ऐसी हैं कि जिन्हें पढ़कर हृदय आन्दोलित हो जाता है, आनन्दित हो जाता है।

यह चवालीसवीं गाथा भी एक ऐसी ही अद्भुत गाथा है कि जिसमें द्वादशांग का सार समाहित हो गया है।

तारणस्वामी ने इस गाथा में निज भगवान शुद्धात्मा का स्वरूप समझाया है। मूल गाथा इसप्रकार है :-

ममात्मा ममलं शुद्धं ममात्मा शुद्धात्मनम्।
देहस्थोऽपि अदेही च ममात्मा परमात्मं ध्रुवम् ॥४४॥

इस गाथा में निज शुद्धात्मा की बात कही गई है। इसमें कहा गया है कि मेरा यह ध्रुव आत्मा अत्यन्त अमल है, पूर्ण शुद्ध है। देह में विराजमान यह मेरा आत्मा स्वयं अदेही है और स्वयं ही परमात्मा है।

इस गाथा में जो बात कही गई है, वह किसी अन्य भगवान आत्मा की बात नहीं है। इसमें निज भगवान आत्मा की ही बात है, अपने आत्मा की ही बात है।

मेरा आत्मा अर्थात् मैं। मैं ही पूर्ण अमल हूँ, मैं ही पूर्ण शुद्ध हूँ, रागादि विकारी भाव मेरे स्वभाव में नहीं हैं, मैं रागादि विकारी भाव-रूप नहीं हूँ। यह बात ही यहाँ जोर देकर कही गई है।

यद्यपि मेरी वर्तमान पर्याय में मोह-राग-द्वेषादि भाव पाये जाते हैं, तथापि वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं हैं, विकार हैं, विकृतियाँ हैं। विकार और विकृतियाँ वस्तु नहीं हुआ करतीं। यद्यपि ये विकार आत्म-वस्तु में ही उत्पन्न होते हैं, तथापि वे आत्मवस्तु कदापि नहीं हो सकते।

यद्यपि फोड़ा देह में ही पैदा होता है; पर वह देह तो नहीं होता, उसे देह तो नहीं माना जाता; क्योंकि वह देह की विकृति है। इसीप्रकार ये रागादि भाव आत्मा में पैदा होकर भी आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि ये आत्मा की विकृतियाँ हैं।

यदि इन रागादि भावों को ही आत्मा मान लिया जाय तो फिर इन्हें आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता है। चूंकि इन्हें आत्मा से अलग किया जा सकता है, अतः ये आत्मा नहीं हो सकते हैं।

अरे भाई! यदि आत्मा का हित करना है तो यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

आत्मा को यहाँ "निर्मल" न कहकर "ममल" कहा है। ममल अर्थात् अमल। जिसका मल निकल गया हो, उसे निर्मल कहते हैं और जिसमें मल हो ही नहीं, उसे अमल कहते हैं। अरहंत और सिद्ध भगवान निर्मल हैं और त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा अमल है।

ये रागादिभाव आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। आशय यह है कि रागादि भाव हैं अवश्य; पर वे आत्मा नहीं, आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं। मेरा आत्मा तो इससमय ही अत्यन्त अमल और पूर्ण पवित्र है। मुझे निर्मल या पवित्र होना नहीं है, अपितु मैं अमल और शुद्ध हूँ।

यद्यपि यह बात सत्य है कि ये रागादि भाव मेरी ही भूल से मुझमें ही पैदा हुए हैं; तथापि ये मेरे नहीं हैं, ये मैं नहीं हूँ। मेरी भूल भी मात्र इतनी ही है कि मैं स्वयं को भूलकर आजतक पर को अपना मानता रहा हूँ। पर यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि वह भूल भी तो मैं नहीं हूँ, वह भूल भी तो मुझ से भिन्न ही है; क्योंकि भूल तो एक न एक दिन मिट जानेवाली है और मैं तो अनादि-अनन्त अमिट पदार्थ हूँ। अमिट आत्मा मिटनेवाली भूलस्वरूप कैसे हो सकता है?

'भूल मात्र एकसमय की भूल है, पर मैं भूल नहीं हूँ।' – यह नहीं समझना ही सबसे बड़ी भूल है, जिसके कारण यह आत्मा स्वयं भगवान होकर भी चार गति और चौरासी लाख योनियों में भटक-भटक कर जन्म-मरण के अनन्त दुःख उठा रहा है।

"ममात्मा ममलं शुद्धं" इसमें आत्मा को 'अमल' कहकर नास्ति से बात की है और 'शुद्ध' कहकर अस्ति बताई है। मल माने गलतियाँ – विकृतियाँ। आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विकृतियों और गलतियों की आत्मा में नास्ति है, अतः आत्मा अमल है।

यहाँ जब गलतियाँ नहीं रहेंगी, तब की बात नहीं है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि अभी जिस समय गलतियाँ हो रही हैं, उसी समय आत्मा गलतियों से रहित अमल है।

ध्यान रखने की बात यह है कि यह बात अपने आत्मा की ही बात है, औरों की नहीं; क्योंकि यहाँ तो साफ-साफ लिखा है कि "ममात्मा ममलं" अर्थात् मेरा आत्मा अमल है। यह अकेले तारणस्वामी के आत्मा की भी बात नहीं है, सभी आत्माओं की बात है। जो समझे, उसके आत्मा की बात है।

इस छोटे से कथन में तारणस्वामी ने कितनी बड़ी बात कह दी है, पर कोई समझे तब न ? आत्मा तो सदा ही अमल है, वह तो कभी मलिन होता ही नहीं है। मलिनता मात्र पर्याय में होती है, पर भगवान आत्मा तो पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुवतत्त्व है। भाई ! यह परम-अध्यात्म की बात है।

आगे कहते हैं कि मेरा यह शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है। रागादि विकारी परिणाम अशुद्ध हैं, अध्रुव हैं और भगवान आत्मा शुद्ध है, ध्रुव है। मेरा यह शुद्ध आत्मा, ध्रुव आत्मा ही परमात्मा है। "ममात्मा परमात्मं ध्रुवं" कहकर तारणस्वामी प्रत्येक आत्मा को ध्रुव परमात्मा घोषित करते हैं।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि "अप्पा सो परमप्पा – आत्मा ही परमात्मा है।" अपना परमात्मा तो अपना आत्मा ही है, क्योंकि अपनी परमात्मदशा तो अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होनेवाली है।

मेरा यह त्रिकाली ध्रुव परमात्मा देहदेवल में विराजमान होने पर भी अदेही है, देह से भिन्न है। तारणस्वामी इसी गाथा में कहते हैं कि "देहस्थोऽपि अदेही च" देह में स्थित होने पर भी आत्मा अदेही है।

देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न भगवान आत्मा मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं। यहाँ इस बात पर विशेष वजन है।

देह से भिन्न, राग से भिन्न, गुणभेद से भी भिन्न निज भगवान आत्मा की चर्चा मैंने अभी-अभी लिखी संवरभावना में की है, जो इसप्रकार है :–

देहदेवल में रहे पर देह से जो भिन्न है।
है राग जिसमें किन्तु जो उस राग से भी अन्य है ।।
गुणभेद से भी भिन्न है पर्याय से भी पार है।
जो साधकों की साधना का एक ही आधार है ।।१।।

कौन है वह आत्मा ?

मैं हूँ वही शुद्धात्मा चैतन्य का मार्तण्ड हूँ।
आनन्द का रसकन्द हूँ मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ ।।
मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ ।।२।।

देहदेवल में विराजमान देह से भिन्न अमल, अखण्ड, आनन्द का रसकंद, ज्ञान का घनपिण्ड, ध्येय, ज्ञेय, श्रद्धेय चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा मैं स्वयं हूँ। इस बात पर तारणस्वामी ने बहुत बल दिया है। यही कारण है कि गाथा में तीन-तीन बार 'ममात्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

उक्त विषय से अपरिचित जगतजन ऐसा मानते हैं कि परमात्मा शुद्ध है और हम अशुद्ध हैं, परमात्मा महान है और हम तुच्छ हैं; पर वे यह नहीं जानते कि ऐसा मानने पर एक बात स्पष्टरूप से माननी होगी कि जो शुद्ध है, वह पर है और जो निज है, वह अशुद्ध है।

ध्यान रहे पर का और अशुद्ध का ध्यान करने से अशुद्धता की उत्पत्ति होती है और निज का तथा शुद्ध का ध्यान करने से शुद्धता की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार शुद्धता की उत्पत्ति के लिए दो आवश्यक शर्तें हो गईं। शुद्धता की उत्पत्ति के लिए एक तो निज का ध्यान करना आवश्यक है और दूसरे शुद्ध का। अतः यदि निज और शुद्ध एक ही नहीं हुए तो फिर शुद्धता की उत्पत्ति संभव नहीं रहेगी।

यदि अरहंत-सिद्धरूप परमात्मा को ही शुद्ध मानेंगे और अपने आत्मा को स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध होने पर भी शुद्ध नहीं मानेंगे तो शुद्धता और निजता एक साथ घटित नहीं होगी, क्योंकि अरहंत-सिद्धरूप परमात्मा तो निजस्वरूप हो नहीं सकते।

अतः दोनों शर्तें पूरी करने के लिए निज को ही शुद्ध मानना होगा, तभी आत्मानुभूति होगी, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होगी।

अपने को शुद्ध मानना गलत भी नहीं है, क्योंकि अपना आत्मा भी स्वभाव से तो शुद्ध है ही।

हमारी सबसे बड़ी भूल यही है कि हमने निज भगवान आत्मा को अशुद्ध मान रखा है। अरे, हमारा आत्मा वर्तमान पर्याय में भले ही विकारी हो; तथापि उसका स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, अमल है। इस त्रिकाली निज शुद्धात्मा के ध्यान से ही पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है, यही शुद्धात्मा हमारे ध्यान का ध्येय व श्रद्धान का श्रद्धेय है।

इस गाथा का मूल प्रयोजन यही बात स्पष्ट करना है।

निजत्व बिना सर्वस्व समर्पण नहीं होता। पर-परमात्मा चाहे कितना ही महान क्यों न हो, उसमें सर्वस्व समर्पण संभव नहीं है, उचित

भी नहीं है। सर्वस्व समर्पण तो निज परमात्मा में ही संभव है, आवश्यक भी यही है।

जैसे लोक में देखा जाता है कि अपना बेटा कितना ही नालायक क्यों न हो, हम अपनी संपूर्ण सम्पत्ति उसे ही देकर मरना चाहते हैं। पराया बेटा कितना ही योग्य क्यों न हो, हम उसकी प्रशंसा तो दिल खोलकर कर सकते हैं, पर उसे अपनी संपूर्ण सम्पत्ति देने का भाव नहीं आता। देने का भाव भी आवे तो थोड़ी-बहुत देकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं।

यह आत्मा लोक में तो कभी भूल नहीं करता है; पर अलौकिक मार्ग में भूल जाता है। अरे भाई! पर-परमात्मा को पराये अच्छे बेटे की तरह मात्र प्रशंसा तक ही सीमित रखो, स्तुति-वन्दना तक ही सीमित रखो और अपने आत्मा को सर्वस्व समर्पण कर दो।

जबतक निज भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित नहीं होगा, तबतक उसमें सर्वस्व समर्पण भी नहीं होगा। जिसमें परत्व बुद्धि रहती है, वह चाहे भगवान ही क्यों न हो; उसके प्रति वह बात नहीं होती है, जो अपने प्रति होती है।

यही कारण है कि लोग अपने खाने के लिए दस रुपये किलो के चावल खरीदते हैं और भगवान को चढ़ाने के लिए तीन रुपये किलो के। बस यही व्यवहार अपने आत्मा के प्रति हो रहा है। शरीर में एकत्वबुद्धि होने से उसके लिए संपूर्ण जीवन समर्पित है और आत्मा के साथ सौतेले बेटे जैसा व्यवहार हो रहा है।

इसी बात को लक्ष्य में रखकर तारणस्वामी बार-बार "ममात्मा" कहकर निज भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं। अपने बेटे की उन्नति में जो आनन्द आता है, वह पड़ौसी के बेटे की तरक्की में नहीं; इसीप्रकार अपने आत्मा के शुद्ध होने में, अमल होने में जो आनन्द है, वह पर-परमात्मा की अमलता में नहीं।

आध्यात्मिक रुचि के लिए अपने आत्मा में अपनत्व होना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान का कार्य तो जो जैसा है, उसे मात्र वैसा ही जान लेना है। उसमें अपने-पराये का भेद करना श्रद्धा का कार्य है एवं अच्छे-बुरे की कल्पना राग-द्वेष की उपज है।

ज्ञान तो किसी भी वस्तु को वीतरागभाव से जान लेता है; पर जिसमें हमारा अपनत्व होता है, उसमें हम रुचि लेने लगते हैं, राग करने लगते हैं।

अनादिकाल से हमने अपने को तो पहिचाना नहीं है, अपने भगवान आत्मा में तो एकत्व स्थापित किया नहीं है और अपनी ही कल्पना से परपदार्थों में से ही किन्हीं को अपना और किन्हीं को पर या पराया मान रखा है। अपनी इसी मान्यता के अनुसार हम परपदार्थों में राग-द्वेष किया करते हैं।

मान लीजिए आप रेलगाड़ी से यात्रा कर रहे हैं। पास बैठे यात्री से आप पूछते हैं :–

"भाई साहब ! आप कौन हैं, कहाँ से आ रहे हैं, कहाँ जावेंगे, आप कहाँ रहते हैं ?"

उत्तर में वे कहते हैं :– "हम जैन हैं, मध्यप्रदेश में रहते हैं।" – तो आप एकदम पुलकित हो जाते हैं; कहने लगते हैं :– "हम भी जैन हैं, हम मध्यप्रदेश में रहते हैं।" पर जब वे बताते हैं कि हम खण्डेलवाल, तो आप नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं; कहते हैं कि हम तो परवार हैं।

जिनमें आपका एकत्व है, जब दूसरा भी उसरूप मिलता है तो उसमें आपकी रुचि जागृत हो जाती है, उससे आप अनुराग प्रकट करने लगते हैं; पर जिसमें आपका एकत्व नहीं है, उसके प्रति आपके व्यवहार में एक रूखापन सा आ जाता है।

आत्मा में आपका वीर्य उत्साहित हो – इसके लिए उसमें अपनापन होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा के सुधरे बिना ज्ञान-चारित्र नहीं सुधरते। अतः यहाँ तारणस्वामी श्रद्धा की ही बात कर रहे हैं,। "ममात्मा ममलं शुद्धं" कहकर वे श्रद्धा गुण को ही मुख्य बना रहे हैं।

यदि ज्ञान की बात होती तो कहते कि यह सत्यार्थ है, यह असत्यार्थ है; चारित्र की बात होती तो कहते कि यह हेय है, यह उपादेय है; पर यहाँ श्रद्धा की बात है, अतः कहा जा रहा है कि आत्मा मेरा है, आत्मा मैं हूँ, अन्य देहादि मैं नहीं हूँ, देहादि मेरे नहीं हैं। श्रद्धा की बात होने से स्व-पर का विभाग मुख्य हो गया है। इससे प्रतीत होता है कि तारण स्वामी यहाँ श्रद्धा गुण की ही बात कर रहे हैं।

यहाँ पर स्वामीजी उस आत्मा की बात कर रहे हैं, जिस आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

यहाँ कोई कहे कि क्या अपना आत्मा भी अनेक प्रकार का होता है – श्रद्धा का जुदा और ज्ञान का जुदा ?

उससे कहते हैं कि हाँ, होता है। ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेष भी हो सकते हैं, होते भी हैं; पर श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेषादि भावों से भिन्न ही होता है। ज्ञान आत्मा के स्वभाव एवं स्वभाव-विभाव सभी पर्यायों को भी जानता है; पर श्रद्धा मात्र स्वभाव में ही अपनत्व स्थापित करती है, एकत्व स्थापित करती है। अतः श्रद्धा का आत्मा मात्र स्वभावमय ही है।

इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि श्रद्धा का आत्मा जुदा है और ज्ञान का आत्मा जुदा ?

हाँ, ऐसा ही है। अपेक्षा समझना चाहिए। बिना अपेक्षा समझे कुछ भी समझ में नहीं आवेगा।

श्रद्धा का श्रद्धेय आत्मा राग-द्वेष-मोह से रहित स्वभावमात्र वस्तु है और ज्ञान के ज्ञेयरूप आत्मा में राग-द्वेषरूप विकार भी सम्मिलित होते हैं।

मैं आपसे ही पूछता हूँ कि ससुराल वाले साले-साली हमारे हैं या नहीं ?

वे हमारे है भी और नहीं भी हैं। सम्बन्धी की अपेक्षा हैं और परिवार की अपेक्षा नहीं हैं।

यह बात तो आप लोग अच्छी तरह जानते हैं कि बुन्देलखण्ड में जब पंचकल्याणक होता है तो साथ में गजरथ भी चलाया जाता है। गजरथ चलानेवाले को सिंघई की पदवी दी जाती है। जिस व्यक्ति को सिंघई की पदवी दी जाती है, उसके सभी परिवारवाले भी सिंघई हो जाते हैं, पर ससुरालवाले सिंघई नहीं होते।

ऐसा क्यों होता है – इस पर भी कभी आपने विचार किया है ?

जो अपना नहीं है, उससे हम कितना ही राग क्यों न करें, राग करने मात्र से वह अपना नहीं हो जाता। जो अपना है, उससे हम कितना ही द्वेष क्यों न करें, द्वेष करने मात्र से वह पराया नहीं हो

जाता। जो अपना है सो अपना है, जो पराया है सो पराया है। इसी प्रकार जो अपना है, उसे पराया मानने मात्र से वह पराया नहीं हो जाता; जो पराया है, उसे अपना मानने मात्र से अपना नहीं हो जाता; क्योंकि जो अपना है, वह त्रिकाल अपना है; जो पराया है, वह त्रिकाल पराया है।

मान लो ससुरालवालों से हमारी खूब पटती है और सगे भाइयों से बिल्कुल नहीं बनती। जब हमने पंचकल्याणक करवाया तो ससुराल-वालों को महीनों पहले बुलाया और घरवालों को खबर भी न दी। ससुरालवालों को गजरथ में साथ बिठाया, पर घरवालों को बुलाया तक नहीं; फिर भी जब हम सिंघई बनेंगे तो हमारे घरवाले भाई आदि सभी दूर रहकर भी सिंघई बन जावेंगे, पर पास बैठे कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करनेवाले ससुरालवाले सिंघई नहीं बन सकते।

देखो तो कितनी गजब की बात है कि बगल में बैठे कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करनेवाले साले साहब सिंघई नहीं बन पाये और जो भाई हजारों मील दूर बैठे हैं, जिन्हें हमारे गजरथ चलाने की खबर भी नहीं है, वे सिंघई बन गये। साले से हमने कितना राग किया, पर वे अपने नहीं बन पाये और भाई से कितना ही द्वेष किया, पर वे पराये न हो सके। इससे सिद्ध होता है कि किसी को अपना मानने या राग करने मात्र से कोई अपना नहीं होता; इसीप्रकार किसी को पर मानने या द्वेष करने मात्र से वह पर नहीं हो जाता।

अनादि काल से हमने देहादि परपदार्थों को अपना माना और निज भगवान आत्मा को अपना नहीं माना, पर न तो आजतक देहादि परपदार्थ अपने हुए और न भगवान आत्मा ही पराया हुआ।

यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि देहादि परपदार्थ तो अपने हैं ही नहीं; पर उन्हें अपना जाननेवाला हमारा ज्ञान, अपना माननेवाली हमारी श्रद्धा और उनमें राग-द्वेष करनेवाला चारित्र गुण का परिणमन भी मैं नहीं हूँ। यद्यपि ज्ञान जानता है कि ये मोह-राग-द्वेष के परिणाम अपनी ही विकारी पर्यायें हैं, तथापि श्रद्धा उन्हें स्वीकार नहीं करती। अतः ज्ञान की अपेक्षा वे अपने हैं और श्रद्धा की अपेक्षा अपने नहीं हैं। श्रद्धा का श्रद्धेय तो अमल आत्मा ही है। श्रद्धा का हिसाब अलग है और ज्ञान का हिसाब अलग। तारणस्वामी यहाँ श्रद्धा की बात कर रहे हैं।

कोई व्यक्ति अपने बेटे से नाराज होकर समाचारपत्रों में प्रकाशित कर दे कि अमुक व्यक्ति से मेरा कोई संबंध नहीं है, उससे मेरा कुछ भी

वास्ता नहीं है, उससे जो भी व्यक्ति लेन-देन करेगा, उसका मेरा कोई उत्तरदायित्व नहीं है। इतना सब-कुछ कर देने पर भी उसका बाप तो वही रहेगा, कोई दूसरा थोड़े ही हो जावेगा। इस घोषणा से वह उसके कर्जे के उत्तरदायित्व से भले ही बच जाय; पर जो संबंध है, वह तो है ही। भाई या बेटे से राग टूट जाने से भाई का भाईपना और बेटे का बेटापना थोड़े ही मिट जायगा। इसीप्रकार अपनत्व टूट जाने से अपनापना समाप्त नहीं हो जाता। आत्मा से यदि हमने अपनत्व नहीं किया तो वह अपना नहीं रहा हो – यह तो संभव नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आत्मा में अपनत्व होने का जो लाभ होना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया। हानि मात्र इतनी ही हुई है।

गजब की बात तो यह है कि सब-कुछ बिगड़ कर भी अभी तक कुछ भी नहीं बिगड़ा है। अनादि काल से आजतक सब बिगड़ा ही बिगड़ा तो है; पर जो बिगड़ सकता था, बिगड़ना था, वह तो बिगड़ चुका। बिगड़ चुका अर्थात् बिगड़ कर चुक गया – समाप्त हो गया। बिगाड़ चुक गया, समाप्त हो गया और जिसमें कुछ बिगड़ता ही नहीं – ऐसा भगवान आत्मा मैं आज भी विद्यमान हूँ। जो बिगड़ गया, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ, जिसमें बिगाड़-सुधार का प्रवेश ही संभव नहीं है। बिगाड़-सुधार पर्याय में होता है और मैं तो बिगाड़-सुधाररूप पर्याय से पार अनादि-अनन्त अखण्ड चैतन्य तत्त्व हूँ। तारणस्वामी यहाँ यह बताना चाहते हैं।

अनादि काल से आत्मा को जाने बिना हमने अनन्त दुःख भोगे हैं, नरक गति में सर्दी-गर्मी के दुःख भोगे हैं; पर वे तो चले गये और मैं तो अभी भी विद्यमान हूँ। जो गया, वह मैं नहीं था और जो आनेवाला है, वह भी मैं नहीं हूँ; मैं तो वह हूँ, जो आता-जाता नहीं है। आने-जानेवाले तो मेहमान होते हैं, घरवाले नहीं। मैं मेहमान नहीं, घरवाला हूँ। मोह-राग-द्वेष के परिणाम आने-जानेवाले हैं, मेहमान हैं, वे आये और चले गये। जो गड़बड़ी थी, वह चली गई; जो अच्छाई है, वह टिकाऊ है। मैं तो टिकाऊ तत्त्व हूँ। वस्तु का स्वरूप हमारे कितने अनुकूल है कि जो खराबी थी, वह चली गई; जो अच्छाई है, वह मौजूद है।

बरफ की शिलापर कोई लाल रंग डाल दे तो उस शिला से झरनेवाला जल लाल ही निकलेगा, लाल ही हो जायगा, पर ध्यान रहे शिला तब भी सफेद ही रहेगी, लाल नहीं हो जावेगी। ऊपर से जो

लाल रंग पड़ा है, वह पानी के साथ बहेगा; पर अन्तर की स्वच्छ सफेद शिला तब भी स्थिर रहेगी। निर्मल स्वभाव खड़ा रहता है और विकार बहता है। जिस पर्त पर लालिमा है, उस पर्त से लालिमा ही निकलेगी। जिस पर्त में विकार होता है, वह पर्त ही उखड़ जाती है। आत्मा की जिस पर्याय में राग होता है, वह पर्याय ही अगले समय में व्यय हो जाती है। स्वभाव में तो विकार का प्रवेश भी नहीं होता।

यदि आपको तेज गुस्सा आ रहा है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है; क्योंकि क्रोध का स्वभाव में तो प्रवेश ही नहीं है, वह पर्याय में ही उत्पन्न होता है। जब पर्याय अगले समय में स्वयं नाश को प्राप्त होगी – मरेगी तो क्रोध को भी स्वयं ही मरना होगा। उसके जिन्दा रहने का कोई उपाय ही नहीं है। जिस पर्याय में क्रोध पैदा होता है, जब वही नहीं रहेगी तो क्रोध कहाँ रहेगा, कैसे रहेगा? जिस रेल के डिब्बे में क्रोध बैठा है, जब वह डिब्बा ही कट जाने वाला है तो उस क्रोध को हटाने के विकल्प में मैं क्यों उलझूँ?

मैं तो अमल अखण्ड तत्त्व हूँ, मैं तो अविनाशी तत्त्व हूँ, इस मलिन क्षणिक पर्याय से मुझे क्या लेना-देना? विकार तो पर्याय में ही पैदा होता है, त्रिकाली ध्रुव को तो वह छू भी नहीं सकता। बर्फ की शिला पर रंग पड़ जाने से जगत को तो यही दिखाई देगा कि शिला लाल हो गई है; पर शिला में रंग का प्रवेश ही नहीं हुआ है, वह तो एकदम निर्मल है, अमल है। उस लालिमा को धोने की कोई जरूरत ही नहीं है, क्योंकि वह तो स्वयं ही घुल जानेवाली है।

इसीप्रकार पर्याय में उत्पन्न होनेवाला विकार तो स्वयं मर जाने वाला है। अन्तर में विराजमान त्रिकाली ध्रुव परमात्मा के आश्रय से जो पर्याय उत्पन्न होगी, वह तो निर्मल ही उत्पन्न होगी।

अबतक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब उसी ध्रुव परमात्मा के आश्रय से हुए हैं। साधना का एकमात्र आधार तो वही ध्रुव परमात्मा है और वह मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं।

कितने आनन्द की बात है कि जो भी गड़बड़ी होती है, वह वस्तु में नहीं होती, मात्र मान्यता में ही होती है। आत्मा तो अमल है, शुद्ध है, पर हमने उसे अशुद्ध मलिन मान रखा है, मलिन जान रखा है। यह मानना-जानना ही मलिनता है, इससे अधिक मलिनता कुछ भी नहीं है। हमारे मानने से आत्मा मलिन नहीं हो जाता, वह तो अमल ही रहता है,

मात्र हमारी मान्यता ही मलिन होती है। अतः चिन्ता की कोई बात नहीं है; क्योंकि मूल वस्तु तो ज्यों की त्यों है, उसमें कुछ गड़बड़ी हुई ही नहीं है।

बताओ, यदि किसी को स्वप्न में टी०बी० हो जावे तो किस डाक्टर को दिखाना चाहिए ?

इसमें डाक्टर की आवश्यकता ही क्या है ? टी०बी० किसी को हुई ही कहाँ है ? मात्र टी०बी० होने का स्वप्न आया है। स्वप्न को समाप्त करने का उपाय जागना है, डाक्टर को बुलाना नहीं।

इसमें डाक्टर क्या करेगा, क्योंकि टी० बी० हुई ही नहीं, मात्र टी०बी० होने का भ्रम खड़ा हुआ है। भ्रम से उत्पन्न दुःख को मेटने का उपाय भ्रम दूर करना है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा कभी मलिन हुआ ही नहीं है, मलिन होने का भ्रम ही हुआ है, हमने मात्र उसे मलिन माना है। मलिनता की सीमा मात्र भ्रम तक ही है, मान्यता तक ही है। हमें आत्मा को नहीं सुधारना है; क्योंकि वह सुधरा हुआ ही है, उसमें कोई खराबी हुई ही नहीं है। मात्र मान्यता सुधारने को ही आत्मा का हित कहते हैं। आत्मा तो हित स्वरूप ही है, उसका क्या हित करना ?

आत्मा कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं, मात्र उसे अशुद्ध माना गया है। अतः आत्मा में कुछ करने को रह ही नहीं जाता है। "मैं मलिन हूँ, अशुद्ध हूँ" – मात्र यह मान्यता ही समाप्त करनी है, इसके समाप्त होते ही इस जीव के सारे दुःख समाप्त समझो।

इसप्रकार तारणस्वामी ने इस ज्ञानसमुच्चयसार की चवालीसवीं गाथा में देहदेवल में विराजमान, पर देह से भिन्न, राग से भिन्न, मलिनता से भिन्न निज शुद्ध भगवान आत्मा की ही बात की है।

यह अमल निज परमात्मा ही आनंद का रसकंद है, ज्ञान का घनपिण्ड है; इसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। इसमें एकत्व स्थापित होने का नाम, ममत्व स्थापित होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है, इसे ही जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसी में जम जाने, रम जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

सभी आत्मा इस पावन आत्मा को जानकर इसमें ही एकत्व स्थापित करें, इसमें ही जमकर, रमकर अनन्त सुखी हों – इस पावन भावना के साथ आज विराम लेता हूँ।

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ५९ पर प्रवचन

(मंगलाचरण)

जो मोह माया मान मत्सर मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी ध्यान धारण धीर हैं॥
जो तरण-तारण भवनिवारण भवजलधि के तीर हैं।
वे वन्दनीय जिनेश तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं॥

यह पाँच सौ वर्ष पुराना "ज्ञानसमुच्चयसार" नामक शास्त्र है। इसे आध्यात्मिक संत श्री तारणस्वामी ने बनाया था। आज हम इसकी ५९वीं गाथा पर चर्चा करेंगे।

"ज्ञानसमुच्चयसार" का अर्थ है – सम्पूर्ण ज्ञान का निचोड़। जिनेन्द्र भगवान की द्वादशांग वाणी में जो आया है, तारणस्वामी ने उसका सार ही निचोड़ कर मानो इसमें भर दिया है।

समुच्चय अर्थात् सामूहिक। चौबीस तीर्थंकरों की जो सामूहिक पूजन हम करते हैं, उसे समुच्चय पूजन कहा जाता है। सामूहिक का अर्थ 'हम सब मिलकर करते हैं' – यह नहीं समझना। चौबीस तीर्थंकरों में प्रत्येक की पृथक्-पृथक् पूजन न करके चौबीसों को एक साथ जो एक ही सामूहिक पूजन हम करते हैं, उसे ही समुच्चय पूजन कहा जाता है।

इसीप्रकार यहाँ कहा गया है कि समस्त ज्ञान का जो सार है, वही ज्ञानसमुच्चयसार है। द्वादशांग वाणी में जो आत्महितकारी बात कही गई है, वह बात ही इस ज्ञानसमुच्चयसार ग्रन्थ में भी कही गई है। इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम तारणस्वामी ने ज्ञानसमुच्चयसार रखा है।

एक प्रकार से समयसार का दूसरा नाम ही ज्ञानसमुच्चयसार है। जिस त्रिकाली ध्रुव परमात्मा की बात समयसार में मुख्यरूप से कही गई है, उसी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात इस ज्ञानसमुच्चयसार में भी मुख्यरूप से कही गई है।

दौलतरामजी ने कहा है :–

"कोटि ग्रन्थ को सार यही है, ये ही जिनवाणी उचरो है।
दौल ध्याय अपने आतम को, मुक्तिरमा तोय वेग वरे है।।"

भाई, करोड़ों ग्रन्थों का सार, समस्त जिनवाणी का सार, एक भगवान आत्मा ही है। अतः उसका ध्यान करना ही एक मात्र ऐसा कार्य है, जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है। निज भगवान आत्मा का ध्यान ही दुखों से मुक्ति का वास्तविक उपाय है।

जिसप्रकार दूध का सार घी है, तिल का सार तेल है; उसीप्रकार समस्त जिनवाणी का सार भगवान आत्मा है, सम्पूर्ण ज्ञान का सार एकमात्र आत्मा है। अतः यह आत्मा ही समयसार है और यह आत्मा ही ज्ञानसमुच्चयसार है।

यह भगवान आत्मा ही सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का सार है। द्वादशांग का प्रतिपाद्य एक मात्र भगवान आत्मा ही है। यह बात ५८वीं गाथा में कही है। इसके उपरान्त सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धात्मा की चर्चा करते हुए तारणस्वामी ५९वीं गाथा में लिखते हैं :–

"शुद्धं च सर्व शुद्धं च सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।
शुद्धात्मा शुद्ध ध्यानस्य शुद्धं सम्यग्दर्शनम् ।।५९।।

सर्वज्ञस्वभावी शुद्धात्मा शाश्वत है, शुद्ध है, सर्वशुद्ध है, शुद्धध्यान का विषय है। इसके ही आश्रय से शुद्ध सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है।"

कितना स्पष्ट लिखा है कि शुद्ध ध्यान का विषय शुद्धात्मा शुद्ध है, सर्वशुद्ध है, शाश्वत है, सर्वज्ञस्वभावी है – यह प्रतीति ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

देखो, तारणस्वामी का स्वभाव की शुद्धता पर कितना बल है! इस गाथा में पाँच बार "शुद्ध" शब्द का प्रयोग हुआ है।

यहाँ शुद्धात्मा को शुद्ध कहकर संयोग और संयोगी भावरूप विकारों का निषेध किया है और शाश्वत कहकर क्षणभंगुर पर्यायों से पृथक् बताया है। "सर्वज्ञ" पद द्वारा मात्र ज्ञानस्वभावी ही नहीं, अपितु सर्वज्ञानस्वभावी है – यह बताया गया है। 'सर्वज्ञानस्वभावी' से तात्पर्य 'सर्व पदार्थों को जानने के स्वभाववाला' है।

इसप्रकार यहाँ ध्यान के ध्येय एवं श्रद्धान के श्रद्धेय अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषयभूत भगवान आत्मा को शाश्वत सर्वज्ञस्वभावी एवं सर्वशुद्ध बताकर उसके ही दर्शन करने की, उसका ही ज्ञान करने की एवं उसमें ही जम जाने की, रम जाने की पावन प्रेरणा दी गई है।

भाई ! तेरा आत्मा आज भले ही मलिन दशा में हो; पर स्वभाव-दृष्टि से देखने पर उसमें मलिनता का प्रवेश भी नहीं हुआ है; वह तो शुद्ध है, सर्वांग शुद्ध है। जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ नहीं हो जाता, सोना ही रहता है; उसीप्रकार मोह-राग-द्वेषादि विकारों के मध्य स्थित आत्मा भी विकाररूप या विकारी नहीं हो जाता, शुद्ध ही रहता है।

जिसप्रकार सोने में पीतलादि धातुओं का संयोग हो गया हो, तथापि सोना अपना सोनापन नहीं छोड़ देता, वह तो सोना ही रहता है, उसीप्रकार अनेक संयोगों के मध्य पड़ा भगवान आत्मा अशुद्ध नहीं हो जाता, संयोगरूप नहीं हो जाता, असंयोगी ही रहता है, शुद्ध ही रहता है।

जड़ के संयोगों में पड़ा भगवान आत्मा जड़ नहीं हो जाता, अपितु सर्वज्ञस्वभावी ही रहता है। जिसप्रकार एकक्षेत्रावगाही होने पर भी स्वर्ण पीतल नहीं हो जाता, उसीप्रकार एकक्षेत्रावगाही रहने पर भी जड़ शरीर चेतन नहीं हो जाता और सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा जड़ नहीं हो जाता।

भगवान आत्मा तो शुद्ध है, सर्वशुद्ध है, उसे शुद्ध होने के लिए किसी परपदार्थ की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है।

भगवान आत्मा के इस शुद्धस्वभाव को हमने अनादि से आजतक नहीं पहिचाना, इस कारण यह अशुद्ध हो गया हो – यह बात भी नहीं है। यदि कोई हीरे की कीमत न जाने तो हीरा कम कीमती नहीं हो जाता। उसकी कीमत जो है, सो तो है ही।

प्रसिद्ध कहावत है कि "दर्जी को हीरा मिला, सुई पोवना नाम"। किसी दर्जी को अनायास ही कहीं पड़ा हुआ हीरा मिल गया। वह उसके प्रकाश में सूई में डोरा डालने का काम करने लगा और उसका नाम भी उसने "सुई पोवना" रख लिया। "सुई पोवना" माने सुई

पोने का पत्थर। वह क्या जाने कि यह हीरा क्या वस्तु है? सम्पूर्ण जीवन की दरिद्रता समाप्त हो जावे – ऐसी यह निधि है, पर उसकी पहिचान बिना हीरा का मालिक होने पर भी जीवनभर दरिद्रता का दुःख भोगता रहता है।

यही हालत हमने निज भगवान आत्मा की बना रखी है। जिस भगवान आत्मा के दर्शन मात्र से सम्पूर्ण दुखों का नाश हो सकता है, अनन्त अतीन्द्रियानन्द की शाश्वत प्राप्ति हो सकती है, उसी भगवान आत्मा को दर-दर का भिखारी बना रखा है। चाय बिना चले नहीं, पानी बिना चले नहीं। सुबह उठते ही बिस्तर पर चाय चाहिए, बीड़ी चाहिए, पान-तम्बाकू चाहिए। इनके बिना इसका पेट ही साफ नहीं होता है। गुरुदेवश्री फरमाते थे कि इस तीन लोक के नाथ को बीड़ी की तलफ लगे तो एक माचिस की तीली माँगते कहीं भी देखा जा सकता है। स्वयं करोड़पति हो, पर जिससमय तलफ लगे, उससमय बीड़ी तो हो, पर माचिस न हो तो क्या करे?

ऐसी स्थिति होने पर भी आचार्यदेव कहते हैं कि चिन्ता की कोई बात नहीं है। प्रसन्नता की बात तो यह है कि आत्मवस्तु में अभीतक कोई खराबी नहीं हुई। हीरे की कीमत नहीं समझे जाने के कारण हीरे की कोई हानि नहीं होती, अपितु नहीं समझनेवाले ही घाटे में रहते हैं। इसीप्रकार भगवान आत्मा को नहीं समझने के कारण भगवान आत्मा में कोई हानि नहीं होती, अपितु उसे नहीं समझनेवाली पर्याय ही अज्ञानरूप रहती है, मिथ्याज्ञानरूप रहती है।

प्रश्न :–आजतक जो हीरे की अवमानना हुई, भगवान आत्मा की अवमानना हुई, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर :–हीरे और भगवान आत्मा में कुछ नहीं करना है; क्योंकि उनमें कुछ हुआ ही नहीं है, उनकी कुछ क्षति हुई ही नहीं है। क्षति तो न जाननेवाले की हुई है, गलत जाननेवाले की हुई है; न जाननेवाली और गलत जाननेवाली पर्याय में हुई है। अतः हीरे को कुछ नहीं करना है, भगवान आत्मा को भी कुछ नहीं करना है। हीरा और भगवान आत्मा में भी कुछ नहीं करना है, उन्हें तो मात्र जानना है; उनका सही रूप, उनकी सही कीमत पहिचाननी है, मात्र उनकी महिमा से परिचित होना है। इससे अधिक कुछ नहीं करना है।

अनन्त महिमावन्त भगवान आत्मा की महिमा से परिचित होने पर, उसके प्रति महिमावंत होने पर पर्याय में सहज ही पुरुषार्थ स्फुरायमान होगा, सहज ही भगवान आत्मा के दर्शन होंगे, सहज ही भगवान आत्मा का ज्ञान होगा और सहज ही भगवान आत्मा में लीनता होगी, अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी; होगी; अवश्य होगी; क्यों न होगी ? क्योंकि मार्ग ही ऐसा है, मार्ग ही यही है।

भगवान आत्मा के अतिरिक्त भगवान आत्मा की साधना का सर्वोत्तम अवसर होने के कारण मानवजीवन की भी हीरा से उपमा दी जाती रही है। कहा जाना रहा है कि :-

"हीरा जनम गमायो रे मनवा ! हीरा जनम गमायो।"

हमने इस दुर्लभ मानवजीवनरूपी हीरे को प्राप्त कर इसकी कोई कीमत नहीं की, यों ही विषय-कषाय और मान-बड़ाई में ही गमा दिया। अरे भाई ! इस दुर्लभ अवसर को पाकर भी यदि आत्मा का हित नहीं किया तो पीछे पछताना पड़ेगा। यह क्षणभंगुर जीवन समाप्त होने पर चार गति और चौरासी लाख योनियों में न मालूम कहाँ जाना पड़ेगा ? अवसर हाथ से निकल जायेगा।

यह अवसर खोना योग्य नहीं है। अतः हे आत्मन ! अनादिकालीन मिथ्या मान्यताओं को तोड़कर एकबार निज भगवान आत्मा की आराधना कर – इसमें ही सार है।

प्रश्न :– अनादिकालीन मिथ्या मान्यता – मिथ्यात्व भाव इतनी जल्दी कैसे टूट सकता है ? उसे तोड़ना कोई आसान काम तो है नहीं ?

उत्तर :– अरे भाई, क्यों नहीं टूट सकता ? जितना समय मकान बनाने में लगता है, टूटने में उतना नहीं। भाई ! ऐसा मत मानो कि मिथ्यात्व भाव टूटना असंभव है। मिथ्यात्व भाव के नाश करने में सबसे बड़ी बाधा यह मान्यता ही है। यह मान्यता ही मिथ्यात्व की संजीवनी है।

यदि यह आत्मा ठान ले तो यह मिथ्यात्व एक क्षण में ही टूट सकता है। अनादि का मिथ्यात्व है ही कहाँ ? वह तो प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और क्षण-क्षण में स्वयं ही समाप्त भी हो जाता है। एक समय भी पुराना मिथ्यात्व आत्मा के साथ नहीं है। अनादि तो उसे संतति की अपेक्षा कहा जाता है, वास्तव में तो उसकी काल मर्यादा मात्र एक

समय की है, क्योंकि कोई भी पर्याय एक समय से अधिक टिक ही नहीं सकती। हमने अनादिकालीन कह-कह कर उसकी महिमा अपने चित्त में इतनी बढ़ा रखी है कि उसे तोड़ने की हमारी हिम्मत ही नहीं पड़ती। पर गंभीरता से विचार करें तो इसमें कुछ दम नहीं है।

जैसे – चावल की प्रान्तबन्दी हो अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में चावल ले जाना मना हो और हम ले जाना चाहते हों। मान लो कि हमें मध्यप्रदेश से उत्तरप्रदेश में चावल ले जाना है। चावल मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ एरिया से खरीदना है और उत्तरप्रदेश के सहारनपुर जिले में ले जाना है। अब हम विचार करने लगें कि कहाँ छत्तीसगढ़ और कहाँ सहारनपुर? हजारों किलोमीटर की दूरी है। कैसे होगा यह सब? हजारों किलोमीटर तक पुलिस की आँखों से कैसे बचेंगे?

पर समस्या हजारों किलोमीटर की है ही नहीं, क्योंकि मध्यप्रदेश का चावल मध्यप्रदेश में तो कहीं भी ले ही जाया जा सकता है। इसी-प्रकार उत्तरप्रदेश का चावल भी उत्तरप्रदेश में कहीं भी ले जाया जा सकता है। दोनों की सीमा जब लगी हुई है तो फिर दूरी आड़े बाल बराबर भी तो नहीं है, मात्र बीच में सीमा-रेखा ही तो है। रेखा कहते ही उसे हैं, जिसमें लम्बाई तो हो, पर चौड़ाई न हो।

वास्तविक समस्या हजारों किलोमीटर की नहीं है, मात्र सीमा-रेखा पार करने की है। इसे हमने किलोमीटरों में फैलाकर समस्या को स्वयं ही उलझा लिया है। हम स्वयं ही आतंकित हो गये हैं, हताश हो गये हैं।

ठीक यही बात आजतक मिथ्यात्व के नाश के बारे में भी हुई है। मात्र एक समय की अवस्थारूप मिथ्यात्व को अनादिकालीन मानकर हम आतंकित हो गये हैं, निराश हो गये हैं; पर निराश होने की कोई बात ही नहीं है। हमें वर्तमान एक समय मात्र के मिथ्यात्व से ही लड़ना है, निबटना है।

प्रश्न :– आपने ही तो कहा था कि हमने इस मिथ्यात्व के वश होकर अनादिकाल से आजतक अनन्त दुःख उठाए हैं?

उत्तर :– हाँ, कहा था, अवश्य कहा था। पर उसका आशय तो मात्र इतना ही था कि हम अनादि से आजतक मिथ्यात्व की पकड़ में हैं जकड़ में हैं और अनन्त दुःख भोग रहे हैं। यह बात असत्य भी नहीं है।

यह बात सत्य होने पर भी कि हम अनादि से मिथ्यात्व की जकड़ में हैं, यह बात भी तो है कि जिस मिथ्यात्व की जकड़ में हम हैं, वह स्वयं ही अनादि का नहीं है। वह तो प्रतिसमय बदलता रहता है। वर्तमान मिथ्यात्व की सत्ता तो मात्र एक समय की ही है। अतः समस्या मात्र एक समय के मिथ्यात्व के नाश तक ही सीमित है।

उसे नाश करने के लिए भी हमें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो अगले समय में स्वयं ही समाप्त हो जानेवाला है। आवश्यकता मात्र इतनी है कि हम अगले समय नया मिथ्यात्व उत्पन्न न होने दें। इसके लिए भी उसमें कुछ नहीं करना है, मात्र अपने को जानना है, पहिचानना है। सब-कुछ अपने में ही करना है, पर में कुछ भी नहीं करना है। स्वयं में सिमटना ही सबसे बड़ा कार्य है, मिथ्यात्व के नाश का एकमात्र उपाय है।

मिथ्यात्व के नाश की, अज्ञान के नाश की, असंयम के नाश की यही एकमात्र कला है। जिसे यह कला प्राप्त हो गई, उसे अनादिकालीन मिथ्यात्व के नाश की कोई समस्या नहीं रह जाती है।

वास्तव में बात यह है कि दुखों के अभाव के लिए, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति के लिए पर में कुछ करना ही नहीं है, सब-कुछ अपने में ही करना है। बस अपनी मिथ्या मान्यता को तोड़ना है, कर्म की कड़ियाँ अपने आप टूटती चली जावेंगी।

मिथ्या मान्यता टूटते ही मिथ्याभाव भी समाप्त हो जावेंगे और संसार का भटकना भी समाप्त हो जायगा। आखिर कितना आसान है यह काम, कितना आसान है धर्म, जिसे लोगों ने अपनी ही कल्पना से असंभव बना रखा है।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि स्वाधीन सरलतम अपने हित का काम हमें कठिन लगता है और सर्वथा पराधीन परिणति हमें सरल लगती है। परपदार्थों का संग्रह-विग्रह पराधीन होने से कठिन है, पर हमें वह सरल दिखता है।

अज्ञान की महिमा भी अपरंपार है। परपदार्थों का सर्वथा असंभव परिणमन इसे सरल लगता है और एकदम सहज स्वाधीन निजात्मा को अपना मानना, जानना कठिन लगता है; अपने आत्मा के अनुभव करने का कार्य कठिन लग रहा है। क्या कहें इसे? अज्ञान की बलिहारी है।

अरे, अपने आत्मा के अनुभव का काम जरा एक बार करके तो देख ! आनन्द मिलता है या नहीं ? यह कार्य ऐसा है कि अभी करो और अभी आनन्द पावो। इसका आनन्द पाने के लिए समय की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

बुन्देलखण्ड में एक कहावत चलती है :–

सत्तू, मनमत्तू, कब घोले ? कब खाय ?
धान, चट्ट कूटी, पटट खाई ।।

सत्तू एक ऐसा पदार्थ है कि जिसे गुड़ के साथ पानी में घोलकर एक मिनट में खाया जा सकता है और धान तुष सहित चावल को कहते हैं। यदि हमारे पास धान हो और हम उसके चावल निकाल, भात पकाकर खाना चाहें तो कम से कम तीन दिन तो लगेंगे ही। पहले धान को दलना होगा, फिर कूटना होगा, फटकना होगा, धोना होगा, पकाना होगा; तब कहीं जाकर खाया जा सकता है।

पर समझ की गलती से हम सत्तू के बारे में तो ऐसा कहते हैं कि उसे कब घोला जायगा और कब खाया जायगा। तथा धान के बारे में कहते हैं कि तत्काल कूट कर खा लो।

इसीप्रकार जिन परपदार्थों का परिणमन हमारे हाथ में है ही नहीं, उनके कर्तृत्व को तो हमने सरल मान रखा है और सहज सरल अपने आत्मा के दर्शन को महा कठिन मान रखा है। हमारी यह मान्यता ही हमारे दुखों का मूल कारण है। इसी मान्यता के कारण यह तीन लोक का नाथ आज दर-दर का भिखारी बन रहा है।

अरे ! छोड़ो इस मिथ्या मान्यता को और पहिचानो अपनी अचिन्त्य शक्ति को। यह मत समझो कि इस वर्तमान मलिन पर्याय में आत्मा का अनुभव होना असंभव है '

जरा सोचो तो सही ! महा-अभिमानी इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर से शास्त्रार्थ करने आये थे, विरोधभाव लेकर आये थे; पर मानस्तंभ के दर्शन मात्र से उनका मान गल गया, भगवान के दर्शन मात्र से उनका मन शान्त हो गया, उपदेश सुनने की आवश्यकता ही नहीं रही।

और भी देखो – भगवान महावीर का जीव जब स्वयं शेर की पर्याय में था तो कितना क्रूर था, कितना खूंख्वार था ? मृग को मारकर खा रहा था। कुछ मांसपिण्ड पेट में पहुँच गया था; पर कुछ अभी मुँह में ही था। ऐसी स्थिति में भी जब काल पक गया, तब बिना बुलाए ही दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आकाश मार्ग से सहज ही उतर कर आये। उनकी भाषा से अपरिचित होने पर भी उनके संबोधन से शेर की समझ में सब-कुछ आ गया। अन्दर में पात्रता हो तो भाषा कोई समस्या नहीं है। पात्रता ही पवित्रता की जननी है।

क्रूर शेर ने भी क्रूरता छोड़ अपने आत्मा का अनुभव कर लिया। जब शेर जैसा क्रूर पशु भी अपनी आत्मा का अनुभव कर सकता है तो हम और आप क्यों नहीं कर सकते हैं ? जब पूँछवाला पशु कर सकता है तो क्या यह मूँछवाला आदमी नहीं कर सकता ? अवश्य कर सकता है। अन्तर की लगन चाहिए, लगनवाले को कुछ भी असंभव नहीं है। अतः इस पामरता के विचार को छोड़ो, इस कायरता के विकल्प को तोड़ो कि हम अनादिकालीन मिथ्यात्व को कैसे तोड़ सकते हैं, हम निज भगवान आत्मा का अनुभव कैसे कर सकते हैं ?

अहा, धन्य हैं वे वक्ता; धन्य है वह श्रोता, जिसने उनकी बात को जमीन पर नहीं पड़ने दिया। कैसी होगी वह सभा, जहाँ दो भावलिंगी संत वक्ता और एक क्रूर वनराज श्रोता; न पंडाल, न बिछायत !

जिन वक्ताओं को सभा में कम श्रोता देखकर चित्त में खिन्नता होती हो, उन्हें इस सार्थक सभा पर ध्यान देना चाहिए। वे हजारों श्रोता किस काम के; जो मात्र सुनते ही हैं, सुनकर समझते नहीं, तद्रूप परिणमन नहीं करते। वह एक श्रोता ही पर्याप्त है, जो मात्र सुनता ही नहीं, समझता भी है, तद्रूप परिणमन भी करता है।

हमने तो जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन के हाल में, जहाँ प्रवचन करने बैठते हैं, उसके ठीक पीछे एक बड़ा चित्र लगा रखा है, जिसमें मृग को मारकर खाते हुए शेर को दो मुनिराज उपदेश दे रहे हैं। मैं तो हमेशा उसे दिखाकर अपने छात्रों को समझाया करता हूँ कि कदाचित् कहीं प्रवचनार्थ जाने पर कम श्रोता मिलें तो चित्त को चंचल न करना, निरुत्साहित न होना। इस चित्र को याद करना।

भाई ! आत्मा के अनुभव की बात ही मुख्य है। जिस प्रवचनकार के प्रवचन में आत्महित की प्रेरणा न हो, आत्मानुभव करने पर बल न

हो; वह जिनवाणी का प्रवचनकार ही नहीं है। सीधी सरल भाषा में भगवान आत्मा की बात समझाना, भगवान आत्मा के दर्शन करने की प्रेरणा देना, अनुभव करने की प्रेरणा देना, आत्मा में ही समा जाने की प्रेरणा देना ही सच्चा प्रवचन है।

कई प्रवचनकार आत्मा के अनुभव की सीधी सच्ची बात न कहकर ऐसी कठिन शैली में ऐसी कठिन बात कहेंगे कि किसी के पल्ले कुछ भी न पड़े। वे अपनी विद्वत्ता इसी में समझते हैं। यदि उनकी बात किसी की समझ में आ जाय तो वे बड़े पंडित कैसे रहेंगे? वे कठिन बोलने में ही अपना गौरव समझते हैं; पर भाई साहब! जब उनकी बात किसी की समझ में ही नहीं आवे तो इससे क्या भला होगा जगत का? प्रवचन करने का प्रयोजन पांडित्य-प्रदर्शन नहीं, अपितु आत्महितकारी तत्त्व की बात जन-जन तक पहुँचाना है। स्वयं आत्मानुभव में प्रवृत्त होना और एकमात्र आत्मानुभव की प्रेरणा देना ही सच्चा पांडित्य है।

किसी उर्दू के शायर ने कहा है कि **'खुदा की तस्वीर दिल के आइने में है, जब चाहा गर्दन झुकाकर देख ली।'** तात्पर्य यह है कि खुदा के दर्शन के लिए यहाँ-वहाँ भटकने की आवश्यकता नहीं है। तुझे तेरा खुदा बाहर देखने से दिखाई नहीं देगा। अतः बाहर किसी आकृति के रूप में उसे देखने का प्रयत्न मत कर, अपने अन्दर झाँककर देख!

यह तो पर-परमात्मा के दर्शन की बात है। अपने हृदय में झाँकने से वह नहीं, उसकी तस्वीर ही दिखाई देगी और गर्दन भी झुकानी पड़ेगी। पर निज भगवान आत्मा जो तू स्वयं है, उसके दर्शन के लिए गर्दन झुकाने की भी आवश्यकता नहीं है, मात्र दृष्टि पलटनी है, उपयोग को पलटना है, उपयोग को अपने में झुकाना है। पर ध्यान रहे— यहाँ भगवान आत्मा की तस्वीर दिखाई नहीं देगी, अपितु स्वयं भगवान आत्मा के साक्षात् दर्शन होंगे। मात्र दर्शन ही नहीं होंगे, अपितु तू स्वयं पर्याय में भी भगवान बनने की प्रक्रिया में चढ़ जायगा।

भाई! एक बार करके तो देख यह सब, निहाल हो जायगा। स्वभाव से तो तू भगवान है ही। पर्याय में जो पामरता है, उसकी सीमा भी मात्र इतनी ही है कि उस पर्याय ने स्वभाव के सामर्थ्य को पहिचाना नहीं। पहिचानने मात्र की देर है, अंधेर नहीं है। अतः सावधान हो और अपने स्वभाव की सामर्थ्य को पहिचान।

यही बात यहाँ ज्ञानसमुच्चयसार की गाथा ५९ में तारणस्वामी कहते हैं कि हे आत्मन् ! तू शुद्ध है, सर्वशुद्ध है, मलिनता तुझे छू भी नहीं गई है। तू सर्वज्ञस्वभावी है, सबको जानने का तेरा सहज स्वभाव है। आज यदि इस पामर पर्याय ने निजात्मा के शुद्धस्वभाव और सर्वज्ञ स्वभाव को नहीं जान पाया, तो इतने मात्र से उसका शुद्ध स्वभाव और सर्वज्ञस्वभाव समाप्त थोड़े ही हो गया।

हमें अपने आत्मा के सम्पूर्ण वैभव से भलीभाँति परिचित होना चाहिए। इसकी महानता में हमारी चित्तवृत्तियाँ उसीप्रकार उल्लसित होना चाहिए, जिसप्रकार जगत में कोई निधि मिल जाने से हम उल्लसित हो उठते हैं। आनन्द के रसकन्द, ज्ञान के घनपिण्ड, अनन्त शक्तियों के संग्रहालय, शान्ति के सागर इस भगवान आत्मा की महिमा से हमारा चित्त इतना अभिभूत हो जाना चाहिए कि 'भगवान आत्मा' शब्द सुनते ही हम रोमांचित हो उठें, गद्‌गद् हो जायें। तभी समझना कि हम आत्मार्थिता की ओर बढ़ रहे हैं।

किसी बहू के बाल-बच्चा होना हो। वह प्रसूतिगृह में हो और बाहर घरवाले बड़ी ही उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हों। प्रसूतिगृह से बच्चे के रोने की आवाज आए तो सभी एकदम सतर्क हो उठते हैं, यह जानने के लिए कि क्या हुआ है – बच्चा या बच्ची ? क्योंकि बच्चे के रोने की आवाज से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि प्रसूति सानन्द सम्पन्न हो गई है।

नर्स के दरवाजा खोलते ही सब एकदम उधर को दौड़ते हैं और बड़ी ही उत्सुकता से पूछते हैं कि क्या हुआ ? पर जब नर्स कहती है – "पहले मुँह मीठा कराओ, तब बतायेंगे।"

यह सुनकर ही लोग एकदम प्रफुल्लित हो उठते हैं, क्योंकि वे इतने मात्र से ही समझ जाते हैं कि बच्चा हुआ है, क्योंकि इस दहेज के जमाने में बच्ची के होने पर मिठाई माँगने की हिम्मत भी कौन कर सकता है ?

मिठाई का नाम सुनते ही सब आनन्दित हो उठते हैं, उनके चित्त में वे सभी चित्र उपस्थित हो जाते हैं कि बच्चा बड़ा होगा, पढ़ेगा, शादी होगी, बारात जावेगी, बहू आवेगी, और न जाने किन-किन कल्पनाओं में मग्न हो जाते हैं, क्योंकि वे पुत्र की महिमा से तो पहले से ही अभिभूत हैं।

इसीप्रकार भगवान आत्मा का नाम सुनते ही आत्मार्थी आनन्दित हो उठते हैं। जिसका हृदय भगवान आत्मा नाम सुनकर तरंगित नहीं होता तो समझना चाहिए कि उसके लिए अभी दिल्ली बहुत दूर है; पर जो आत्मा का नाम सुनते ही मुँह बिचकाने लगते हैं, उनकी तो बात ही क्या कहें ?

यदि वही नर्स आकुलित घरवालों को यह समाचार दे कि बारात आयगी तो सबका मुँह लटक जाता है। 'बारात आयगी' का अर्थ तो आप समझ ही गये होंगे। 'बारात आयगी' का अर्थ है – बच्ची हुई है। भाई, यह बात तो सब समझते हैं, इसमें कुछ समझाने की आवश्यकता नहीं है।

'बारात आयगी' सुनते ही सब के चित्त में वे सभी दृश्य एक साथ घूम जाते हैं, जो कालान्तर में उन्हें भोगने होंगे। लड़का खोजते-खोजते जूते घिस जायेंगे, लाखों रुपये खर्च होकर भी निश्चिन्तता हाथ नहीं आवेगी। 'बारात आयगी' एक ही शब्द में संपूर्ण जीवन चित्रित हो जाता है और चेहरा लटक जाता है।

"भगवान आत्मा" की बात सुनकर हमारा चेहरा लटकता है या हम रोमांचित हो उठते हैं – इससे ही इस बात का निर्णय होगा कि हमने भगवान आत्मा को आनन्द का कंद माना है या संकटों का सागर ?

यदि हमने उसे आनन्द का कंद माना है, जाना है तो आनन्द की धारा फूटना ही चाहिए; अतः हे आत्मन्, तू अपने ज्ञानानन्दस्वभावी स्वरूप को पहिचान ! सुखी होने का, शान्त होने का एकमात्र उपाय निज भगवान आत्मा को जानना, पहिचानना ही है, उसी में जमना-रमना ही है।

सभी आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को जाने, पहिचाने और उसी में जमकर, उसी में रमकर अनन्त सुखी हों – इस पावन भावना से आज विराम लेता हूँ।

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ७६ पर प्रवचन

(मंगलाचरण)

जिनका परम पावन चरित जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में गणधर न पावें पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मति को वन्दना शत बार है॥

यह "ज्ञानसमुच्चयसार" नामक ग्रन्थ है। अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व तारणस्वामी ने इसकी रचना की थी। आज इसकी ७६वीं गाथा पर व्याख्यान करेंगे। इस ७६वीं गाथा में भेदविज्ञान की मूल बात है। यह गाथा भी बहुत ही महत्त्व की एवं अत्यन्त उपयोगी है। वैसे तो संपूर्ण ग्रन्थ ही बहुत बढ़िया है, पर पाँच दिन में सब तो पढ़ा नहीं जा सकता है, अतः कुछ महत्त्वपूर्ण गाथाएँ छाँट-छाँट कर ले रहे हैं।

प्रश्न :– जब सभी गाथाएँ एक से एक बढ़कर हैं तो फिर आरंभ से ही क्यों नहीं लेते, बीच-बीच में से छाँट कर क्यों लेते हैं?

उत्तर :– भाई! आप ठीक कहते हैं, स्वाध्याय तो आद्योपान्त ही करना चाहिए; पर हम तो मात्र पाँच दिन के लिए ही आए हैं। यदि आदि से आरंभ करेंगे तो मंगलाचरण ही पूरा नहीं हो पावेगा। हमने तो यहाँ आकर भी इसका स्वाध्याय भी आरंभ से ही आरंभ किया है और अन्त तक पूरा करके ही जावेंगे, पर सभा में तो आद्योपान्त पढ़ा नहीं जा सकता है; अतः भेदविज्ञानमूलक गाथाएँ ही आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे तो इस ग्रन्थ की कोई भी गाथा उठा लो, उसमें आत्मा की बात अवश्य मिलेगी; पर जो गाथाएँ आत्मा को सीधा स्पर्श करती हैं, मूल प्रयोजन को सिद्ध करनेवाली होने से उन्हीं गाथाओं को लेने का विकल्प है।

सब लोगों को इस ग्रन्थ का आद्योपान्त स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिले – इसी पावन भावना से चुन-चुन कर गाथाएँ ली जा रही हैं, कोई और प्रयोजन नहीं है।

इस ७६वीं गाथा में तारणस्वामी कहते हैं :-

"पूर्व पूर्व उक्तं च द्वादशांगं समुच्चयं ।
ममात्मा अंग सार्धं च आत्मनं परमात्मनं ।।७६।।

तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञदेव, गणधरदेव एवं सम्पूर्ण आचार्य परम्परा द्वारा पूर्वोक्त जो बारह अंग और चौदह पूर्वों का समुच्चय ज्ञान है, उसका सार मात्र इतना ही है कि शरीर के साथ रहनेवाला मेरा आत्मा ही परमात्मा है।"

ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का सार ही यह ज्ञानसमुच्चयसार है। तारणस्वामी यहाँ साफ-साफ कहते हैं कि इस "ज्ञानसमुच्चयसार" ग्रन्थ में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। मैंने तो मात्र वही कहा है, जो "पूर्व उक्त" है। इस "पूर्व-उक्त" शब्द का प्रयोग इस 'ज्ञानसमुच्चयसार' ग्रन्थ में सैकड़ों बार हुआ है। हर दो-चार गाथाओं के बाद इसका प्रयोग मिल जायगा।

"पूर्व-उक्त" का तात्पर्य यही है कि तीर्थंकर भगवान ने समवशरण में गणधर और सौ इन्द्रों की उपस्थिति में जो उपदेश दिया था, जिसे गौतमादि गणधरों ने द्वादशांग के रूप में निबद्ध किया था और जो कुंदकुंदाचार्य की परम्परा से मुझे प्राप्त हुआ है, वही मैं यहाँ इस ज्ञानसमुच्चयसार नामक ग्रन्थ में कह रहा हूँ।

धर्मपूर्वजों से चला आया ज्ञान ही पूर्वज्ञान कहा जाता है। आगम शब्द से भी यही भाव व्यक्त होता है कि जो ज्ञान पहले से ही चला आ रहा है, वही ज्ञान आगमज्ञान है।

"उक्त" शब्द यह बताता है कि यह ज्ञान केवली द्वारा कथित है। पूर्वलिखित न लिखकर पूर्व-उक्त लिखा है, क्योंकि देशनालब्धि सुनने से होती है, पढ़ने से नहीं। 'उक्त' सुना जाता है और 'लिखित' पढ़ा जाता है।

इसप्रकार तारणस्वामी यह कहना चाहते हैं कि इस ज्ञानसमुच्चय-सार में कहा हुआ जो भी ज्ञान है, ज्ञान का सार है, वह सब पूर्वश्रुतज्ञान है अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा कहा हुआ और हमारा सुना हुआ ज्ञान है, अतः पूर्वश्रुतज्ञान है। संपूर्ण श्रुतज्ञान का सार होने से यह शास्त्र सचमुच ही ज्ञानसमुच्चयसार है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर के बाद लगभग छह सौ वर्ष तक तो संपूर्ण ज्ञान श्रुत (सुनने) के आधार पर ही चला। जब स्मृति कमजोर होने लगी और श्रुतज्ञान परम्परा के नष्ट होने की संभावना प्रतीत होने लगी तो पूर्वश्रुतज्ञान को निबद्ध किए जाने का उपक्रम आरंभ हुआ। प्रथम श्रुतस्कंध को आचार्य धरसेन के शिष्य भूतबली-पुष्पदंत ने एवं द्वितीय श्रुतस्कंध को आचार्य कुंदकुंद ने लिखकर सुरक्षित किया।

उक्त श्रुतपरम्परा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही तारणस्वामी बारंबार "पूर्व-उक्त" शब्द का प्रयोग करते देखे जाते हैं।

वे यह कहकर अपने पाठकों को आश्वस्त करना चाहते हैं कि मैं अपनी कल्पना से कुछ नहीं कह रहा हूँ; अपितु जो भी कह रहा हूँ, वह सर्वज्ञ की परम्परा से चली आ रही श्रुतपरम्परा का ही सार है।

जगत में जब सर्वनाश का संकट उपस्थित होने लगता है तो चतुर व्यक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण – सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु को जान की बाजी लगाकर भी सुरक्षित करना चाहते हैं। मात्र चाहते ही नहीं, अपितु पूरी शक्ति लगाकर उसे सुरक्षित कर देते हैं।

जब हमारे धर्मपूर्वजों ने देखा कि वीतरागी-सर्वज्ञ द्वारा निरूपित सुख-शान्ति का मार्ग स्मृतिभ्रंशता के कारण संकटापन्न है तो उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर उसे लिपिबद्ध कर सुरक्षित कर दिया; क्योंकि उसके बिना लोगों का धर्म से च्युत हो जाना अनिवार्य था, आत्मा की उपासना का मार्ग समाप्त हो जाने की संभावना स्पष्ट प्रतिभासित हो रही थी।

हम उन आचार्य भगवन्तों का जितना उपकार मानें, कम है; जिन्होंने अत्यन्त करुणा करके आत्महितकारी जिनवाणी लिपिबद्ध करके सुरक्षित कर दी। उन्होंने हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है। तारणस्वामी ने उसी जिनवाणी का सहारा लेकर जो भी आत्महितकारी सन्मार्ग प्राप्त किया था, स्वयं के हित के लिए तो उसका भरपूर उपयोग किया ही, जगत को भी दिल खोलकर बाँटा।

इस ७६वीं गाथा के पूर्वार्द्ध में यह कहकर कि हम जो कह रहे हैं, वह द्वादशांग वाणी का ही सार है, पूर्वाचार्यों की परम्परा से समागत ज्ञान का ही सार है; अब उत्तरार्द्ध में उस सार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शरीर के साथ रहनेवाला मेरा आत्मा ही परमात्मा है।

देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा ही साक्षात् परमात्मा है। – द्वादशांग वाणी का यही सार है। – यह बात इस ज्ञानसमुच्चयसार में अनेकों बार कही गई है। घुमा-फिराकर तारणस्वामी बार-बार इसी बात पर आ जाते हैं, क्योंकि उनके चित्त में वीतरागी वाणी की यह बात गहराई से घर कर गई थी। ४४वीं गाथा में भी यह बात इसी रूप में कही गई है, जिस पर कि अभी दो दिन पहले ही अपन विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

समस्त द्वादशांग का सार वास्तव में तो एक आत्मा ही है। एक आत्मा को समझाने के लिए ही तो समस्त शास्त्रों की रचना हुई है, क्योंकि एक इस भगवान आत्मा के ज्ञान बिना ही यह आत्मा अनादि-काल से संसार में भटक रहा है, अनन्त दुःख उठा रहा है।

इस "आत्मा" शब्द में केवल ढाई अक्षर हैं। इन ढाई अक्षरों को जो सुन लेता है, समझ लेता है, पढ़ लेता है, अपना लेता है, पा लेता है; उसने सुनने योग्य सब सुन लिया, समझने योग्य सब समझ लिया, पढ़ने योग्य सब पढ़ लिया, अपनाने योग्य सब अपना लिया और पाने योग्य सब पा लिया समझो।

इन ढाई अक्षर के आत्मा को जान लेना ही ज्ञान है, पांडित्य है, शेष सब प्रपंच है, उसमें कुछ सार नहीं है। भाई! निज भगवान आत्मा को जाननेवाले ही सच्चे ज्ञानी हैं, सच्चे पण्डित हैं।

कबीर का एक दोहा प्रसिद्ध है :–

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥"

इसमें मात्र इतना सुधार कर दें कि "प्रेम" के स्थान पर "आत्मा" शब्द रख दें तो हमें यह पूर्णतः स्वीकार है। ऐसा कर देने पर उक्त छन्द फिर इसप्रकार होगा :–

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर आत्म का, पढ़े सो पण्डित होय॥"

भाई! प्रेम शब्द में ढाई अक्षर हैं और आत्मा शब्द में भी ढाई अक्षर ही हैं। जो आत्मा के इन ढाई अक्षरों को पढ़ें अर्थात् इन ढाई अक्षरों का जो प्रतिपाद्य है, उसे समझें, वही वास्तव में सच्चा पंडित है।

पोथियाँ पढ़-पढ़कर कोई भी व्यक्ति आजतक सच्चा पंडित अर्थात् आत्मज्ञानी नहीं बना है।

यदि हम इस भगवान आत्मा को न समझ सके, इसका अनुभव न कर सके तो सब-कुछ समझकर भी नासमझ ही हैं, सब-कुछ पढ़कर भी अपढ़ ही हैं, सब-कुछ अनुभव करके भी अनुभवहीन ही हैं, सब-कुछ पाकर भी अभी कुछ नहीं पाया है—यही समझना। अधिक क्या कहें? समझदार को इशारा ही पर्याप्त होता है।

इस ७६वीं गाथा में आत्मा शरीर के साथ है (अंग सार्धं)—कहकर तारणस्वामी ने वर्तमान में आत्मा की क्या स्थिति है—इसका ज्ञान कराया है, संयोग का ज्ञान कराया है, व्यवहार बताया है। पर साथ में यह कहकर कि मेरा यह आत्मा ही परमात्मा है, उस व्यवहार का निषेध कर दिया है, संयोग की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा दिया है।

यह सब कहकर वे यह कहना चाहते हैं कि वर्तमान में यह भगवान आत्मा देह-देवल में विराजमान है, पर इतना ध्यान रखना कि इस देह को ही भगवान आत्मा मत समझ लेना, देह तो देवालय है। इस देह-देवालय में जो ज्ञानानन्द स्वभावी जीव रहता है, भगवान आत्मा तो वह है।

यद्यपि यह आत्मा देह के संयोग में अनादि से ही है, तथापि ध्यान रखने की बात यह है कि देह के साथ रहकर भी यह देहरूप नहीं हो गया है, आत्मरूप ही रहा है।

अबतक इस आत्मा ने स्वयं के नाम पर मात्र देह के ही दर्शन किए हैं, अबतक इसकी दृष्टि देह तक ही सीमित रही है, उसे भेदकर उसके भीतर विराजमान भगवान आत्मा तक नहीं पहुँची है। अतः स्वामीजी प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे आत्मन्! इस शरीर पर से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ले जा।

पर कठिनाई यह है कि यह भगवान आत्मा शरीर के भीतर ही तो विराजमान है, शरीर ही में तो है। शरीर से दृष्टि हटाने पर तो दृष्टि आत्मा से और भी दूर हो जावेगी। यदि शरीर पर ही दृष्टि केन्द्रित रखते हैं तो फिर शरीर पर ही जमी रहती है, आत्मा तक पहुँचती ही नहीं। अतः कुछ समझ में नहीं आता कि आखिर करें क्या?

भाई ! आकुलित होने की आवश्यकता नहीं। शान्ति और धैर्य से समझोगे तो सब समझ में आयगा। शरीर पर से दृष्टि हटाने का तात्पर्य दृष्टि कहीं और ले जाने से नहीं है, शरीर के ही भीतर विद्यमान शरीर से भिन्न निज भगवान आत्मा पर ले जाने से है। इसके लिए दृष्टि को भेदक होना होगा। तेरी दृष्टि में ऐसी भेदक सामर्थ्य है कि तू चाहे तो देह की ओर देखते हुए भी देह को न देखे, उसके भीतर विराजमान भगवान आत्मा को ही देखे। जरा प्रयत्न करके देख !

जब हम किसी बच्चे को चन्द्रमा दिखाना चाहते हैं तो उससे कहते हैं कि चन्द्रमा की ओर देखो, पर वह यह नहीं जानता कि चन्द्रमा किस ओर है, वह कहाँ देखे ? तो हम कहते हैं कि आकाश की ओर देखो, पर आकाश तो बहुत विशाल है, चारों ओर है, आखिर वह देखे कहाँ ?

तब हम उसे वृक्ष की ओर देखने को कहते हैं। पर वृक्ष भी किस ओर है – बताने के लिए हम अंगुली दिखाते हैं।

अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि बालक वृक्ष देखे या अंगुली ?

यदि अंगुली न देखे तो वृक्ष किस ओर है ? – यह पता चलना कठिन है। अतः सर्वप्रथम अंगुली देखना अनिवार्य है, पर अंगुली ही देखता रहे तो वृक्ष दिखाई नहीं देगा। अतः अंगुली देखकर, उसका इशारा समझकर अंगुली देखना बंद करके वृक्ष की ओर देखे, वृक्ष देखे।

पर वृक्ष देखना ही तो उद्देश्य नहीं है। वृक्ष तो चन्द्रमा देखने के लिए देखना था। अतः वृक्ष को देखकर वृक्ष की ओर ही देखता रहे, पर वृक्ष को देखना बन्द करके, उसको आड़ में छिपे, उसके पीछे विद्यमान चन्द्रमा को देखे, तभी चन्द्रमा दिखाई देगा। चन्द्रमा दिखाई दे जाने के उपरान्त अत्यन्त रुचिपूर्वक उसे ही इस गहराई से निहारता रहे कि वृक्ष दिखाई देना ही बन्द हो जावे और मात्र चन्द्रमा ही दिखाई देता रहे।

क्या गजब की बात है कि वृक्ष की ओर देखे, पर वृक्ष न देखे, उसके पीछे विद्यमान चन्द्रमा ही देखे। ऐसा होना असंभव भी नहीं है।

इसीप्रकार जब आचार्यदेव हमें भगवान आत्मा के दर्शन कराना चाहते हैं तो वे कहते हैं कि हे आत्मन् ! तूने आजतक निज भगवान आत्मा के दर्शन नहीं किए, इसीलिए अत्यन्त दुःखी है; अतः तू संपूर्ण

जगत से दृष्टि हटाकर निज भगवान आत्मा को ही देख। पर अज्ञानी को तो यह खबर ही नहीं है कि आत्मा कहाँ है ? अतः वह कहाँ देखे ?

आचार्यदेव करुणा करके उससे कहते हैं कि वह भगवान आत्मा देह-देवालय में विराजमान है, उधर देख !

अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि अज्ञानी किसे देखे ? देह को या आत्मा को ?

यदि देह की ओर न देखें तो आत्मा कैसे दिखाई देगा ? क्योंकि भगवान आत्मा तो देह-देवालय में ही विराजमान है। मन्दिर में विराजमान भगवान के दर्शन करना हो तो मन्दिर में जाना ही होगा।

हाँ, जाना होगा, अवश्य जाना होगा; जाना भी होगा और मन्दिर को देखना भी होगा; पर मन्दिर को ही देखता रहेगा तो भगवान के दर्शन नहीं होंगे। यदि भगवान के दर्शन करना है तो मन्दिर को देखकर मन्दिर में ही रहकर मन्दिर को देखना बन्द करके भगवान को देखना होगा, तभी भगवान के दर्शन होंगे।

इसीप्रकार देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा के दर्शन करने के लिए देह को भी देखना होगा, देह को देखकर, देह को देखना बन्द करके उसी में विद्यमान भगवान आत्मा को देखना होगा।

देह को देखने में भी देह को देखना उद्देश्य नहीं है, भगवान आत्मा को देखना ही उद्देश्य है। अतः देह को देखने के उपरान्त देह को देखना बन्द करके, जब वहीं विद्यमान भगवान आत्मा को गहराई से देखने का रुचिपूर्वक प्रबल पुरुषार्थ करेगा तो भगवान आत्मा के दर्शन अवश्य होंगे।

भगवान आत्मा की झलक मिलने के बाद अत्यन्त रुचिपूर्वक उसी को निहारता रहे, निहारता रहे; तबतक निहारता रहे, जबतक कि देह की सत्ता का आभास ही समाप्त न हो जाये, बस एक भगवान आत्मा ही आत्मा न दिखाई देता रहे।

यह सब असंभव नहीं है। तीव्रतम रुचिवाले उग्र पुरुषार्थी के लिए सब-कुछ संभव है। जब विषय-कषाय की रुचिवाले कामी जीव साड़ी में लिपटी युवती की देह को साड़ी से भिन्न देख लेते हैं, जान लेते हैं, तो

फिर देह में लिपटे, देह से भिन्न भगवान आत्मा के दर्शन भी असंभव क्यों हो ?

भाई ! आत्मा के अनुभव करने की यही विधि है। इस विधि से ही आजतक अनन्त जीव आत्मा का अनुभव करके अनन्त सुखी हो चुके हैं और भविष्य में भी जो जीव आत्मा का अनुभव करके सुखी होंगे, वे भी इसी विधि से होंगे ; कोई दूसरा उपाय नहीं है।

भाई ! तारणस्वामी कहते हैं कि "ममात्मा अंग सार्धं च" अर्थात् मेरा आत्मा शरीर के साथ रहकर भी उससे भिन्न है। वे बार-बार याद दिलाते हैं कि यहाँ जो देहू-देवल में विराजमान, पर देह से भिन्न भगवान आत्मा की बात चल रही है, वह किसी अन्य आत्मा की बात नहीं है, अपितु अपने ही भगवान आत्मा की बात है। यह बात ४४वीं गाथा में भी कही थी और यहाँ फिर कह रहे हैं।

प्रश्न :– एक ही बात को बार-बार क्यों कहा जा रहा है ?

उत्तर :– इसलिए कि हम बार-बार भूल जाते हैं। यदि हम एक बार में ही समझ लें तो आचार्यदेव भी बार-बार न कहें, पर वे अच्छी तरह जानते हैं कि जबतक आत्मा के साथ एकत्व स्थापित न होगा, तबतक उससे परत्व बना ही रहेगा।

क्षयोपशम ज्ञान में आ जाने पर भी न मालूम क्यों हमें ऐसा लगता ही नहीं है कि जिस आत्मा के यहाँ गीत गाये जा रहे हैं, वह आत्मा मैं ही हूँ ?

यदि आत्मा में एकत्व स्थापित हो जाय तो आत्मा की चर्चा में कभी भी उकताहट न हो। आत्मा की चर्चा में होनेवाली उकताहट ही यह सूचित करती है कि अभी हमारा भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित नहीं हुआ है। 'मैं ही स्वयं भगवान आत्मा हूँ' – ऐसी अहंबुद्धि जागृत नहीं हुई है।

यदि आपका अभिनन्दन समारोह हो रहा हो और अनेक वक्ता आपके गीत गा रहे हों, आपकी प्रशंसा में भाषण दे रहे हों तो आपको उकताहट नहीं होती। कहते हैं – 'भाई, बोलने दो, क्यों रोकते हो ?' चाहे सारी रात ही पूरी क्यों न हो जावे, पर अपनी प्रशंसा को सुनते-सुनते थकते नहीं है, पर आत्मा की चर्चा चल रही हो तो एक घंटे में दश बार घड़ी देखते हैं।

जैसी इस लौकिक पर्याय की प्रशंसा सुहाती है, वैसी प्रशंसा भगवान आत्मा की नहीं सुहाती – इससे प्रतीत होता है कि जैसी आत्मबुद्धि एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, अहंबुद्धि इस पर्याय में है, देह में है, मान-बड़ाई में है; वैसी आत्मबुद्धि, अहंबुद्धि भगवान आत्मा में नहीं है।

यही कारण है कि करुणासागर आचार्यदेव बार-बार याद दिलाते हैं कि भाई ! बारम्बार ऐसा विचार कर :–

मैं हूँ वही शुद्धात्मा, चैतन्य का मार्तण्ड हूँ।
आनन्द का रसकंद हूँ, मैं ज्ञान का घनपिण्ड हूँ॥
मैं ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ, मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं मैं स्वयं भगवान हूँ॥

बारम्बार ऐसा विचार करने पर तुझे यह प्रतीति जगेगी कि वास्तव में अनन्त शक्तियों का संग्रहालय भगवान आत्मा मैं ही हूँ।

भाई ! यह आत्मा की चर्चा तेरा अभिनन्दन समारोह ही है। तू इसमें रस ले, भरपूर रस ले। यदि रस लेगा तो तुझे इसमें ऐसा आनन्द आयगा कि कभी थकावट ही नहीं होगी।

आत्मा की चर्चा में थकावट लगना, ऊब पैदा होना आत्मा की अरुचि का द्योतक है। अब आप स्वयं सोच लो कि आपको किसकी रुचि है ? हमें इस बारे में कुछ नहीं कहना है।

"रुचि अनुयायी वीर्य" के अनुसार जहाँ हमारी रुचि होती है हमारी संपूर्ण शक्तियाँ उसी दिशा में काम करती हैं। यदि हमें भगवान आत्मा की रुचि होगी तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ भगवान आत्मा की ओर ही सक्रिय होंगी और यदि हमारी रुचि विषय-कषाय में हुई तो हमारी संपूर्ण शक्तियाँ विषय-कषाय की ओर ही सक्रिय होंगी।

हमसे बहुत लोग कहते हैं कि कहाँ ये आत्मा-फात्मा की बातें ले बैठे, कोई अच्छी बात बताओ न ! धर्म की बात बताओ न ! पर भाई उनसे हम क्या कहें, जो आत्मा के साथ फात्मा शब्द जोड़कर आत्मा की उपेक्षा करते हैं, अपमान करते हैं ? आत्मा की बात क्या बुरी बात है, अधर्म की बात है ? हमारी दृष्टि में तो भगवान आत्मा के अतिरिक्त कोई बात अच्छी हो ही नहीं सकती। आत्मा के बिना तो धर्म की कल्पना भी संभव नहीं है, पर हम उनसे क्या कहें ?

आप ही सोच लो कि उनकी रुचि कहाँ लगी है ? जिसे आत्मा की रुचि होगी, उसे ही आत्मा की बात सुहायेगी। जिसे आत्मा की

रुचि न होगी, उसे तो आत्मा की बात सुहायेगी ही नहीं, अपितु बुरी लगेगी। पर हम क्या कर सकते हैं ? हम तो नहीं चाहते हैं कि हमारे मुँह से कोई ऐसी बात निकले, जो किसी को बुरी लगे; पर हम आत्मा की बात छोड़ भी तो नहीं सकते।

भाई ! जब मैंने एक स्थान पर अपने प्रवचन में उक्त छन्द बोलते हुए कहा कि –

"बस एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं मैं स्वयं भगवान हूँ।"

तो एक भाई कह उठे कि हमने तो प्रवचन के लिए पंडितजी बुलाये थे, यह भगवान कहाँ से आ गये ? आगे कहने लगे कि हमने तो आपको भगवान की वाणी का मर्म समझने के लिए बुलाया था और आप तो स्वयं को भगवान बताने लगे।

मैंने कहा – भाई ! हम मात्र अपने को ही नहीं, आप सबको भी भगवान बता रहे हैं। हम यहाँ अपने को ही नहीं, आप सबको भगवान कहने आये हैं। क्यों न कहें ? क्योंकि सभी आत्मा स्वभाव से तो भगवान हैं ही, यदि हम स्वयं को भगवानस्वरूप स्वीकार कर लें, जान लें, मान लें और स्वयं में ही समा जावें तो पर्याय में भी भगवान बन सकते हैं।

विश्व के समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही तो एक ऐसा दर्शन है, जो कहता है कि सभी आत्मा स्वयं भगवान हैं। भगवान की भी गुलामी से मुक्त करनेवाला अनन्त स्वतंत्रता का उद्घोषक यह जैनदर्शन एक अद्भुत दर्शन है। भाई ! आपका भी दोष नहीं है, क्योंकि आज इस दुनिया में इतने नकली भगवान पैदा हो गए हैं कि जब कोई जैनदर्शन के इस अद्भुत सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है कि – "मैं स्वयं भगवान हूँ" तो दुनिया चौंक पड़ती है; पर भाईसाहब ! यह एक तथ्य है, परमसत्य है कि प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवानस्वरूप ही है।

भगवान बनने का मार्ग बतानेवाला यह दर्शन क्या लोगों को उनकी भगवत्ता से परिचित नहीं करायेगा, क्या स्वभाव से भगवान होने पर भी उन्हें पर्याय में भी भगवान बनने की प्रेरणा नहीं देगा ?

क्यों नहीं देगा, अवश्य देगा; क्योंकि संपूर्ण जिनवाणी एक मात्र इसके लिए ही तो समर्पित है।

इस संदर्भ में महाकवि तुलसीदासजी का एक पद मुझे बहुत अच्छा लगता है, जिसमें वे लिखते हैं :–

"जाको प्रिय न राम-वैदेही,
सो तजिए करोड़ बैरी सम यद्यपि परम सनेही ।

जिन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम व सीता प्रिय नहीं है, चाहे वे हमारे परमस्नेही ही क्यों न हों, उन्हें करोड़ शत्रुओं के समान त्याग देना चाहिए ।"

अपनी बात के औचित्य को सिद्ध करने के लिए वे कुछ भक्तों के पौराणिक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं :–

"पिता तज्यो प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी ।

प्रह्लाद ने अपने रामविरोधी पिता को, विभीषण ने अपने रामविरोधी भाई को एवं भरत ने अपनी रामविरोधी माँ को जिसप्रकार त्याग दिया था, उसीप्रकार हमें भी रामविरोधी अपने स्नेहियों को त्याग देना चाहिए ।"

अन्त में निष्कर्ष के रूप में सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :–

"मेरे तो सारे नाते राम सों

मेरे संपूर्ण नाते राम के माध्यम से ही हैं । जो राम का विरोधी, वह मेरा विरोधी और जो राम का भक्त, वह मेरा मित्र – बस मेरा तो यही हिसाब है ।"

आत्मार्थी के सन्दर्भ में उक्त सूत्र में मैं मात्र इतना ही संशोधन करना चाहता हूँ कि –

"मेरे तो सारे नाते आतमराम सों –

मेरे अर्थात् आत्मार्थी के संपूर्ण नाते आतमराम के माध्यम से ही होते हैं ।"

भाई ! तुलसीदासजी की रुचि थी सीता-राम में और हमारी रुचि है आतमराम में । वे कहते थे कि मेरे सारे नाते राम सों और मैं कहता हूँ कि मेरे सारे नाते आतमराम सों ।

आप चाहे जो भी कहें; पर मुझे तो एक आत्मा की बात ही धर्म की बात लगती है, उसी में आनन्द आता है; अतः मैं तो सब जगह आत्मा की ही बात करता हूँ । भाई ! आप भी तो आत्मा ही हैं, आपको आत्मा की बात में आनन्द क्यों नहीं आता ?

आत्मार्थी तो आत्मा की रुचि और आराधना में ही होता है । जो बाह्य पदार्थों में ही लीन हो, रुचिवंत हो; उसे आत्मार्थी कैसे कहा जा सकता है ?

भाई ! प्रत्येक आत्मा अपने भले-बुरे एवं सुख-दुःख का स्वयं जिम्मेदार है । कोई दूसरा हमारा भला-बुरा नहीं कर सकता । तारण-स्वामी ही क्या, सभी संतों का एक ही कहना है कि हमें जगत-प्रपंचों से दूर रहकर मात्र अपने हित में संलग्न रहना चाहिए ।

भाई ! हम सबका जीवन बहुत थोड़ा है । किसी का दश वर्ष अधिक होगा, किसी का दश वर्ष कम; पर इससे क्या अन्तर पड़ता है ? हम सभी को इस थोड़े से शेष जीवन का एक-एक क्षण कीमती जानकर इसका सदुपयोग करना चाहिए ।

जो बात स्वयं के हित की लगती है, वह बात सभी तक पहुँचे – इस पावन भावना से ही हम आत्मा की बात करते हैं ।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से जो वीतरागी तत्त्व मिला है, वह जन-जन की वस्तु बन जावे, सम्पूर्ण जगत उसे जानकर पहिचानकर, अपनाकर अनन्तसुखी हो – इस भावना से ही आत्मा की बात करते हैं । जगत माने, न माने – इससे हमें क्या अन्तर पड़ता है ? इसकी चर्चा करने से अपना उपयोग तो निर्मल रहता ही है ।

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि आप लोग हमारी बात सुनते नहीं, मानते नहीं । सुनते भी हैं, भूमिकानुसार यथासंभव मानते भी हैं; न सुनते होते तो इतनी सर्दी में इतनी रात गए खुले मैदान में हजारों लोग न बैठे रहते । रात को कटरा बाजार में समयसार चलता है न ! देखो, हजारों लोग कितनी शान्ति से सुनते हैं ? पर भाई ! सुनने मात्र से काम चलनेवाला नहीं है, इस वीतरागी तत्त्व को जीवन में ढालना होगा, जीवन को वीतराग-विज्ञानमय बनाना होगा ।

हम तो यही भावना भाते हैं कि हमारा यह शेष जीवन आत्मा के गीत गाते-गाते ही बीते । हमारा ही क्यों, आपका भी – हम सबका यह शेष जीवन आत्मा की आराधना में ही समाप्त हो । एकमात्र यही सार है, शेष तो सब असार है ।

सभी आत्मार्थी निज भगवान आत्मा को जानकर, पहिचानकर, निज में ही जमकर-रमकर अनन्तसुखी हों – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ ।

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ८९७ पर प्रवचन

निज आत्मा को जानकर पहिचानकर जमकर अभी ।
जो बन गये परमात्मा पर्याय में भी वे सभी ।।
वे साध्य हैं आराध्य हैं आराधना के सार हैं ।
हो नमन उन जिनदेव को जो भवजलधि के पार हैं ।।

यह "ज्ञानसमुच्चयसार" नामक ग्रन्थ है । इसके अन्त में अनेक गाथाओं में तारणस्वामी ने "ज्ञानसमुच्चयसार" नाम की व्याख्या की है, सार्थकता सिद्ध की है । उसमें सर्वप्रथम गाथा ८९७वीं गाथा है । आज उसी पर चर्चा करेंगे । गाथा इसप्रकार है :–

"ज्ञानसमुच्चयसारं, उवइट्ठं जिनवरेहि जं ज्ञानं ।
जिन उत्तं ज्ञानसहावं, सुद्धं ध्यानं च ज्ञानसमुच्चयसारं ।।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जो ज्ञान है, वही ज्ञानसमुच्चयसार है अथवा जिनेन्द्र भगवान कथित ज्ञानस्वभावी आत्मा का शुद्ध ध्यान ही ज्ञानसमुच्चयसार है ।"

तारणस्वामी कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जो संपूर्ण ज्ञान है, यह ज्ञानसमुच्चयसार उसका ही संक्षिप्त संकलन है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है । अपनी बात और भी स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि जिनेन्द्र भगवान ने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा का जो स्वरूप बताया है, उसे जानकर ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का शुद्ध ध्यान करना ही जिनोक्त संपूर्ण ज्ञान का सार है । यही बात इस ज्ञानसमुच्चयसार ग्रन्थ में बताई गई है ।

देखो, कितनी गजब की बात कही कि संपूर्ण ज्ञान का सार ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का ध्यान करना ही है । भाई, यही बात तो समयसार में पग-पग पर बताई गई है । चाहे समयसार हो, चाहे ज्ञानसमुच्चयसार हो, जिनेन्द्र भगवान की परम्परा का कोई भी ग्रन्थ हो – सभी का सार एक मात्र यही तो है ।

अपने आत्मा का ध्यान ही एकमात्र कर्तव्य है । "शुद्ध ध्यानं च ज्ञानसमुच्चयसारं" – कहकर स्वामीजी ने एकदम स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानसमुच्चयसार अर्थात् भगवान आत्मा का ध्यान ही धर्म है ।

दौलतरामजी कहते हैं :—

"लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद फंद निज आतम ध्याओ॥

भाई ! लाख बात की एक बात यह है कि जगत के संपूर्ण दंद-फंद छोड़कर एक निज आत्मा का ही ध्यान करो — इस बात को हृदय में अच्छी तरह धारण कर लो।"

समयसार में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है और यहाँ ज्ञानसमुच्चय-सार कहा है। समयसार में "ज्ञानमात्र" शब्द से अकेला ज्ञानवाला आत्मा नहीं लिया है, अपितु अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा ही "ज्ञानमात्र" शब्द से कहा गया है। यहाँ भी "ज्ञानसमुच्चयसार" शब्द से अनन्त धर्मात्मक आत्मा ही लिया गया है।

ज्ञानमात्र में "मात्र" शब्द आनन्दादि गुणों के निषेध के लिए नहीं, अपितु परपदार्थों एवं रागादि विकारों के निषेध के लिए लिया गया है। वहाँ जो कार्य "मात्र" शब्द से लिया गया है, यहाँ वह कार्य "सार" शब्द से लिया गया है। सार अर्थात् पर से भिन्न, विकार से रहित, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड निज भगवान आत्मा ही ज्ञानसमुच्चयसार है, यह ज्ञानस्वभावी ज्ञानसमुच्चयसार ही ध्यान का ध्येय है, श्रद्धान का श्रद्धेय है एवं परमज्ञान का ज्ञेय है।

ज्ञानसमुच्चयसार माने भगवान आत्मा। ज्ञानसमुच्चयसाररूप निज भगवान आत्मा का कथन करनेवाला होने से इस ग्रन्थ को भी ज्ञानसमुच्चयसार कहा गया है। इस नामकरण में भी कितनी गहराई है ! ज्ञानियों की हर बात में गहराई होती है।

प्रश्न :— यहाँ ज्ञानसमुच्चयसार का अर्थ त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा बता रहे हैं और पहले समस्त ज्ञान का सार, जिनवाणी का सार बताया था — दोनों में कौन सा अर्थ सही है ?

उत्तर :— भाई ! दोनों ही सही हैं। जिसप्रकार समयसार का अर्थ शुद्धात्मा भी है और शुद्धात्मा का प्रतिपादक ग्रन्थ भी। उसीप्रकार शुद्धात्मा का नाम भी ज्ञानसमुच्चयसार है और शुद्धात्मा के प्रतिपादक इस ग्रन्थ का नाम भी ज्ञानसमुच्चयसार है। द्वादशांग का प्रतिपाद्य भी एक शुद्धात्मा ही है; अतः यह ग्रन्थ द्वादशांग का सार भी है।

प्रत्येक बात को अपेक्षा से समझो तो सब समझ में आ जायगा, कोई परेशानी नहीं होगी।

आगे तारणस्वामी कहते हैं कि यह ज्ञानसमुच्चयसाररूप भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है। ज्ञानस्वभावी है अर्थात् इसका स्वभाव जानना-देखना मात्र है, पर में कुछ करना इसका स्वभाव नहीं है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर पर के कर्त्तृत्व के विकल्पों में ही उलझा है। अतः यहाँ कहा गया है कि भगवान तेरा स्वभाव तो मात्र जानने-देखने का है, तू इसे छोड़कर क्यों दुखी हो रहा है ?

अपने अज्ञान से यह आत्मा आचार्यों की भाषा में भी कर्त्तृत्व खोज लेता है।

किसी साधारण व्यक्ति ने किसी ज्ञानी महापुरुष से कहा :–

"आप सावधान हो जाइये, कुछ लोग आपको मारने आ रहे हैं।"

ज्ञानी ने सहज भाव में उत्तर दिया :–

"आने दीजिए, कोई चिन्ता की बात नहीं। हम उन्हें भी देख लेंगे।"

महापुरुष के इस कथन का सामान्य लोग तो यही अर्थ लगायेंगे कि यह कह रहे हैं कि हम उन्हें भी देख लेंगे अर्थात् हम उनसे भी निपट लेंगे, हम उन्हें ऐसा उत्तर देंगे कि जिन्दगीभर याद रखेंगे, हम भी ईंट का जवाब पत्थर से देना जानते हैं। तात्पर्य यह है कि ये महापुरुष भी लड़ने-मरने को तैयार हैं, मरने-मारने पर उतारू हैं।

पर उन ज्ञानी महापुरुष का तो मात्र इतना कहना था कि जब हमारा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है, तो जो भी परिस्थिति आवेगी, हम उसे भी सहजभाव से जान लेंगे, उस पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करेंगे। जिसप्रकार पुण्योदय से प्राप्त अनुकूल संयोगों को जान लेते हैं, उसीप्रकार पापोदय से प्राप्त प्रतिकूल संयोगों को भी जान लेंगे। अनुकूल संयोगों में प्रसन्न और प्रतिकूल संयोगों में अप्रसन्न होना हमारा स्वभाव नहीं है, यदि कमजोरी के कारण कदाचित् ऐसा होता भी है तो वह हमारी भूल ही होगी।

पर ज्ञानी के इस आशय को कौन समझता है ? जगतजन तो उनके "देख लेंगे" शब्द का अर्थ 'लड़ने को तैयार हैं' ही समझते हैं। ज्ञानी के हृदय को समझने के लिए उन जैसी गहराई चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

यहाँ तारणस्वामी कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान है, जानना मात्र है, पर में कुछ करना नहीं; अतः हे आत्मा! तू मात्र जानने तक ही सीमित रह।

लोक में कहावत है कि सुनना सबकी, करना मन की; पर जिनवाणी की आज्ञा है कि जानना सबको, जमना अपने में। जानने योग्य तो सम्पूर्ण जगत है; पर जमने योग्य, रमने योग्य, अपना मानने योग्य एक निज भगवान आत्मा ही है। ज्ञान स्वपर-प्रकाशक होता है। वह अपने को भी जाने और पर को भी जाने, इसमें कोई दोष नहीं है, पर को जानने में कोई दोष नहीं है। हाँ, पर को अपना मानना, उसका ही ध्यान करना, उसी में रम जाना अपराध है, बंध का कारण है, दुःख का कारण है।

यदि पर को जानने में कोई दोष होता तो केवली भगवान पर को क्यों जानते? वे तो सर्वज्ञ हैं न? जो सबको जाने, उसे ही सर्वज्ञ कहते हैं। भाई! आत्मा में एक सर्वज्ञत्व नाम की शक्ति है। समयसार में सैंतालीस शक्तियों का वर्णन आता है। उनमें ज्ञानशक्ति के साथ एक सर्वज्ञत्वशक्ति भी है। अतः सबको जानना आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अपना स्वभाव कैसे छोड़ सकता है? पर यह ध्यान रहे कि पर में कुछ करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार आत्मा में एक सर्वदर्शित्वशक्ति भी है, जिसके कारण आत्मा सबको देखता है। सबको देखना-जानना आत्मा का सहज स्वभाव है। जब आत्मा का स्वभाव स्व-पर को देखना-जानना है, तब देखने-जानने से इन्कार कैसे किया जा सकता है?

जब ज्ञानी कहते हैं कि उन्हें भी देख लेंगे, तब उनका आशय अपने इस सर्वदर्शी-सर्वज्ञ स्वभाव की स्वीकृति से ही होता है; पर अज्ञानी उनका भाव नहीं समझता, वह तो उसे धमकी ही समझता है; पर इसके लिये हम क्या करें? यह अपनी भूल तो अज्ञानी को स्वयं ही मिटानी होगी।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो फिर आप बार-बार यह क्यों कहते हैं पर को तो अनन्त बार जाना, पर आज तक अपने आत्मा को नहीं जाना; अतः पर का जानना बन्द कर, एक बार अपने आत्मा को तो जान। जब पर को जानना आत्मा का स्वभाव है, तो पर को जानने का निषेध क्यों?

उत्तर :– यह तो हम ठीक ही कहते हैं, क्योंकि यदि अपने को जान लिया होता तो इस संसार में न भटकते, अनन्तदुखी न रहते, अनंतसुखी हो गये होते।

भाई ! यह पर को जानने का निषेध नहीं, अपने को जानने की प्रेरणा है। अल्पज्ञ प्राणी एक समय में एक को ही जान सकता है, अतः जबतक पर को जानने में लगे रहोगे, तबतक अपने को न जान सकोगे। अपने को जानना है तो पर को जानने का लोभ छोड़ना ही होगा।

प्रश्न :– पर को जानना बन्द करेंगे तो पर को जानने का जो आत्मा का स्वभाव है, उसका क्या होगा ? तथा केवली भगवान तो स्व-पर को एकसाथ जानते हैं।

उत्तर :– अरे भाई ! अनन्तकाल से अपने को नहीं जाना तो क्या आत्मा का स्व-प्रकाशक स्वभाव समाप्त हो गया ? नहीं; तो फिर एक क्षण यदि पर को नहीं जानेगा तो आत्मा का पर-प्रकाशक स्वभाव कैसे समाप्त हो जावेगा ?

आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। न अकेला स्व-प्रकाशक, न अकेला पर-प्रकाशक।

स्व-परप्रकाशक स्वभाव का धनी यह भगवान आत्मा जब पर्याय में भी भगवान बन जाता है, तब सबको एकसाथ जानने लगता है। अतः जिसका पर को जानना सबके जानने में बाधक नहीं है, उसे पर के जानने से मना नहीं किया जाता, पर जिसका पर को जानना स्व के जानने में बाधक है, उसे पर से उपयोग हटाकर स्व में लगाने की प्रेरणा दी जाती है।

भगवान का ज्ञान पर को जानने पर भी उसमें अटकता नहीं है, उलझता नहीं है और हम जिस पर को जानने जाते हैं, उसी में अटक जाते हैं, उसी में उलझ जाते हैं। पर को जानने में दोष नहीं; पर पर में अटकने में, उलझने में तो हानि है ही।

पर को जानने में जो अटकता नहीं है, भटकता नहीं है, उसे पर को जानने में कोई हानि नहीं है। भटकना रास्ता भूल जाने को कहते हैं और अटकना रास्ते में कहीं रुक जाने को कहते हैं, उलझ जाने को कहते हैं। भटकना श्रद्धा का दोष है और अटकना चारित्र की कमजोरी है।

जिसके भटक जाने की, अटक जाने की संभावना होती है, उसे लोक में भी यहाँ-वहाँ नहीं जाने दिया जाता है, पर जिसके भटकने की संभावना नहीं है, उसे कहीं भी जाने की छूट रहती है।

एक बार मैंने शिखरजी की यात्रा पर जाने का निश्चय किया। पता चलते ही हमारे पड़ोस के ही एक भाई आये और बोले :–

"हमने सुना है, आप शिखरजी जा रहे हैं ?"

मैंने कहा – "सुना तो आपने ठीक ही है।"

वे तपाक से बोले – "हमारी अम्माजी को भी साथ ले जाओ, उनकी भी यात्रा हो जायेगी। आपसे अच्छा साथ कहाँ मिलेगा ?"

मैंने कहा – "आप भी चलिये न ? अम्माजी भी चलें और आप भी चलें। सभी चलें हमारे साथ, हमें क्या तकलीफ है ? सबको स्वयं ही तो जाना है।"

वे बोले – "हमें तो फुरसत नहीं है और बहू-बेटी को अकेले भेजना ठीक नहीं है; अतः सोचा अम्माजी को तो भेज ही दें।"

उनकी यह बात सुनकर मुझे बड़ा ही अटपटा लगा। अम्माजी अकेली जा सकती हैं, पर बहू-बेटी नहीं। जरा आप भी विचार कीजिये न ? जो चार कदम भी बिना सहारे के नहीं चल सकतीं, उन अम्माजी को अकेली शिखरजी भेजा जा सकता है, पर जो जूडो-कराटे की मास्टर हैं, वह बहू-बेटी अकेली नहीं भेजी जा सकती।

मैंने झुंझलाते हुए उनसे कहा – "आप क्या कह रहे हैं ? बहू-बेटी को अकेली भेजना ठीक नहीं और अम्माजी को भेजना ठीक है ?"

वे समझाते हुए बोले – "अम्मा अकेली कहाँ जा रही है, वह तो आपके साथ ही जावेगी न !"

मैंने गुस्से में कहा – "और बहू ?"

वे एकदम सन्नाटे में आ गये, उनकी समझ में ये आ ही नहीं रहा था कि बहू को भी अकेली जाने की क्या बात है ? पर वे भी बिचारे क्या करें ? उनकी समझ ही इतनी थी।

शिखरजी तो बहुत दूर, पर गाँव के मन्दिर भी भेजना हो तो बहू के साथ सास मन्दिर जावेगी, उसे अकेली मन्दिर भी नहीं जाने दिया जावेगा और अम्माजी को शिखरजी भी अकेले भेजा जा सकता है। जगत का यह व्यवहार मेरी समझ से परे है।

पर बात यह है कि बहू के पास लुटने के लिए बहुत कुछ है और अम्माजी के पास कुछ नहीं है। सवाल आवश्यकता का नहीं, जीवन सुरक्षा का भी नहीं, बात कुछ और ही है।

सास को डर लगता है कि मन्दिर में बहू को अकेली पाकर कहीं कोई उसके विरुद्ध भड़का न दे, अतः सास उसे समाज के सामने एक मिनट भी अकेली नहीं छोड़ना चाहती है; पर अम्माजी को भड़काने का कोई भय नहीं है, क्योंकि एक तो अम्माजी भड़ककर करेंगी क्या और जायेंगी कहाँ ? दूसरे, अम्माजी तो अब भड़कने वालों में नहीं, भड़काने वालों में हो गयी हैं, उन्हें कोई क्या भड़कायेगा, वे तो दुनिया को भड़का सकती हैं।

भाई ! यह जगत बहुत विचित्र है। इसकी लीला समझना कोई आसान काम नहीं है, उसे समझने की आवश्यकता भी नहीं है। आत्मा के हित के लिए तो एक भगवान आत्मा का जानना ही पर्याप्त है।

मैंने उन्हें समझाते हुए कहा :—

"भाईसाहब ! मुझे तो कोई एतराज नहीं है, पर बात यह है कि यदि सारे मोहल्ले की माताजी मेरे साथ हो गयीं तो फिर मेरा क्या होगा — आपने यह भी सोचा या नहीं ? अतः मैं अपने साथ आप सबको ले चल सकता हूँ, अकेली माताजी को नहीं।"

वे नाराज से होकर चले गये; पर आप ही बताइये, मैं क्या कर सकता था ?

भाई ! जिसप्रकार नई बहू को यहाँ-वहाँ जाने की मनाई है, पर बड़ी-बूढ़ी माता-बहिनों को नहीं; उसीप्रकार रागी जीवों को पर के जानने में ही लगे रहने का निषेध है, पर वीतरागियों को नहीं। वीतरागी भगवान पर को जानते तो हैं, पर वे उनमें उलझते नहीं हैं, अटकते नहीं, भटकते भी नहीं। अतः उनका पर को जानना सहज है, पर रागी जीव जिसे जानते हैं, उसी में अटक जाते हैं, उसी में उलझ जाते हैं, अज्ञानी तो भटक भी जाते हैं।

अतः उन्हें समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! पर को जानने के मोह को छोड़ो, पर को जानने के लोभ को छोड़ो।

भाई ! स्व-पर को जानना तो आत्मा का स्वभाव है। पर अनादिकाल से हमने पर को ही जाना, अपने आत्मा को नहीं जाना। इस भूल

के कारण यह हानि तो हुई कि हम चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं, अनन्त दुख भोग रहे हैं; पर स्व को जाननेरूप हमारा स्वभाव समाप्त थोड़े ही हो गया है। ध्यान रहे, स्वभाव कभी समाप्त नहीं होता। स्वभाव कहते ही उसे हैं, जो कभी समाप्त न हो। समाप्त हो जाय, तो वह स्वभाव कैसा ?

इसीप्रकार यदि तू कुछ समय पर को न जाने तो उससे तेरा पर को जानने का स्वभाव समाप्त नहीं हो जावेगा। जब भी यह बात आती है कि पर को जानना छोड़ अपने आत्मा को जानो, तो यह पर में रुचि-वाला शास्त्राभ्यासी अज्ञानी पुकार करने लगता है कि पर को जानना तो आत्मा का स्वभाव है, उसे कैसे छोड़ दें ?

भाई ! यह स्वभाव छोड़ने की बात नहीं है, अपितु अपने को जानने की बात है। अपने को जानना भी तो आत्मा का स्वभाव है, उसे अनादिकाल से नहीं जाना, उसे जानना छोड़े हुये हैं, इसकी तो चिन्ता तुझे नहीं हुई और 'पर को जानना यदि एक मिनट को भी बन्द करेंगे तो आत्मा का परप्रकाशक स्वभाव समाप्त हो जायेगा' – यह चिन्ता सता रही है। यह कैसा न्याय है तेरा ?

वास्तव में तो बात यह है कि जिनकी रुचि परपदार्थों में ही है, आत्मा में नहीं है; उन्हें इसीप्रकार के विकल्प आते हैं। वे येन-केन प्रकारेण अपनी रुचि का पोषण करते हैं। उनकी रुचि और राग वस्तु-स्वरूप का सच्चा निर्णय नहीं करने देते।

मिथ्यारुचि और राग निर्णय को प्रभावित करते हैं। किसी भी पदार्थ को देखते ही रागी बोल उठता है :– यह तो बहुत अच्छा है या यह तो बहुत बुरा है; पर भाई ! कोई भी पदार्थ अच्छा-बुरा नहीं होता, वह तो जैसा है, वैसा ही है। ज्ञान का काम तो उसे जैसा है, वैसा जानना है, न कि उसमें अच्छे-बुरे का भेद डालना; पर राग के जोर में ज्ञान की दिशा बदल जाती है।

जिसप्रकार चुम्बक तेजी से फेंके गये लोहे की भी दिशा बदल देता है, उसीप्रकार यह राग का चुम्बक ज्ञान को सही निर्णय नहीं लेने देता। ज्ञान किसी वस्तु को जानने की ओर जाता है तो राग उसे अच्छे-बुरे विकल्पों की ओर मोड़ देता है, पर की रुचि उसे अपने-पराये के चक्कर में उलझा देती है। मिथ्यात्व के जोर से ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है।

यह मिथ्यात्व का ही तो जोर है कि आचार्यदेव अपने को जानने के लिए पर से उपयोग हटाने को कहते हैं तो इसे ज्ञान का पर-प्रकाशक स्वभाव याद आता है; पर 'आत्मा का स्वभाव स्व-प्रकाशक भी है' – यह कभी याद भी नहीं आता। यदि कोई आत्मा के स्व-प्रकाशक स्वभाव की बात सुनाये तो उदास मन से सुन लेता है, उस पर गहराई से विचार ही नहीं करता।

यदि गहराई से विचार करे तो समझ में आ सकता है, सही निर्णय भी हो सकता है; पर गहराई से विचार करे, तब न ?

पर में अपनेपन की बुद्धि और राग अज्ञानी को सही निर्णय नहीं करने देते, सही दिशा में सोचने भी नहीं देते।

एक लड़का किसी की घड़ी चुराकर भागा जा रहा था। उसी के पीछे भीड़ भी उसे पकड़ने के लिए दौड़ रही थी। जब आपने देखा कि चोर आपके सामने से ही भागा जा रहा है, तो आपने शीघ्रता से निर्णय लिया कि उसे पकड़कर भीड़ के हवाले कर देना चाहिये। आप तत्काल दौड़ पड़े और उसे पकड़ लिया; पर आप क्या देखते हैं कि जो घड़ी चुराकर भागा जा रहा है, वह तो आपका ही बेटा है। बस, फिर क्या था ? आप तत्काल ही अपना निर्णय बदल देते हैं, उसे छोड़ देते हैं। उसे भीड़ से बचाने के भी प्रयत्न में जुट जाते हैं।

अब आप ही बताइये कि ज्ञान के सहज निर्णय को किसने बदला ?

बेटे (चोर) में अपनत्व ने, बेटे (चोर) के प्रति राग ने। पर में यह अपनत्व, पर के प्रति यह राग ही सही निर्णय में सबसे बड़ी बाधा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जबतक पर में अपनत्व है, राग है; तबतक यदि उसे जानने जाओगे तो अपना माने बिना भी न रहोगे, उससे राग हुये बिना भी न रहेगा। अतः भला इसी में है कि उठाओ परपदार्थों पर से दृष्टि, छोड़ो उन्हें जानने का मोह, तोड़ो उन्हें जानने का राग; बस एकमात्र अपने को ही जानो, अपने में ही जम जाओ, अपने में ही रम जाओ – इसी में भला है। इस मंगल अवसर पर पर-प्रकाशक स्वभाव को याद मत करो। बस यही याद रखो कि जानने योग्य, मानने योग्य, अपनाने योग्य, जमने योग्य, रमने योग्य बस एक निज भगवान आत्मा ही है।

घड़ी दो घड़ी ऐसा करके तो देखो, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है या नहीं ? अरे भाई ! एक बार यदि ऐसा कर सके तो निहाल हो जाओगे।

भाई ! यह पर को जानने का निषेध नहीं है। यह तो निज भगवान आत्मा को जानने का आदेश है; पर में, विकार में ममत्व तोड़ने का आदेश है, एकत्व तोड़ने का आदेश है, राग छोड़ने का आदेश है। इसे बिना मीन-मेख किये पालन करने में ही हित है। यह गुरु के स्वार्थ की बात नहीं, अपितु तेरे हित की ही बात है।

प्रश्न :– भगवान भी तो पर को जानते हैं, पर उनका हित तो प्रभावित नहीं होता ?

उत्तर – भगवान पर को जानते नहीं, उनके ज्ञानदर्पण में लोकालोक झलकता है। उन्हें पर को जानने का कोई विकल्प नहीं है, राग नहीं है, उत्सुकता नहीं है; बस निर्मल ज्ञानस्वभाव प्रकट हो जाने से उनके ज्ञान में लोकालोक सहज ही प्रतिबिम्बित होता है। तेरे ज्ञान में भी परपदार्थ सहज ही प्रतिबिम्बित होते हों तो कोई हानि नहीं है, जो परपदार्थ क्षयोपशम ज्ञानी के ज्ञान में सहज प्रतिबिम्बित होते हैं, उनके जानने से कोई हानि नहीं होती, पर जो यह पर को जानने की रुचि है, उत्सुकता है, विकल्प है, प्रयत्न है – यह सब नुकसानदेह है। वस्तुतः पर को जानने का नहीं, अपितु पर को जानने की रुचि, उत्सुकता, विकल्प और प्रयत्न का ही निषेध है।

किसी वस्तु का दिखाई देना अलग बात है और रुचिपूर्वक उसे देखना अलग। कोई बहिन सड़क पर जा रही हो, सड़क पर जाते हुए उसका दिखाई दे जाना अलग बात है और बुद्धिपूर्वक उसे घूर-घूर कर देखना, उसे देखने के लिए आकुल-व्याकुल होना अलग बात है। सहज दिखाई दे जाना सामान्य बात है, पर घूर-घूर कर देखना अपराध है। उसे देखने के लिए आकुल-व्याकुल होना दुख ही है, दुख का कारण ही है।

इसीप्रकार परपदार्थों का ज्ञान में सहजरूप से ज्ञात हो जाना सामान्य बात है और उन्हें बुद्धिपूर्वक जानने का प्रयत्न करना, उन्हें ही जानते रहना, उन्हें जानने में आनन्द का अनुभव करना, उन्हें जानने के लिए आकुल-व्याकुल होना अपराध है, दुख का कारण है, संसार है।

यहाँ तो यह कहते हैं कि हे आत्मन् ! तूने अबतक बाह्य पदार्थों को ही जाना है, देहदेवल में विराजमान ज्ञानस्वभावी निज भगवान आत्मा को नहीं जाना, नहीं पहिचाना; अतः अब एकबार निज भगवान आत्मा को जान ! निज भगवान आत्मा को जानना ही ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है, समयसार है, ज्ञानसमुच्चयसार है।

समयसार की १४४ वीं गाथा में भी कहा गया है :-

"सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।

जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है, वह भगवान आत्मा ही समयसार है और उसी को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र संज्ञा हैं।"

निज भगवान आत्मा को जानना ही समयसार है, मोक्षमार्ग है – यहाँ यह कहा गया है।

लोग पूछते हैं कि आपका यह समयसार, यह ज्ञानसमुच्चयसार, यह मोक्षमार्ग – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मात्र जैनियों के लिए ही है या अजैन लोग भी इसका लाभ उठा सकते हैं ?

भाई ! न यह जैनियों के लिए है, न अजैनियों के लिए; यह तो सभी आत्माओं के लिए है। भगवान आत्मा न जैनी है, न अजैनी है। यह समयसार, यह ज्ञानसमुच्चयसार, यह मोक्षमार्ग, यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सब एक भगवान आत्मा के लिए ही है।

भाई ! सच्चा जैनी तो वही है, जो इस भगवान आत्मा को जाने, पहिचाने, इसी में जम जाये, रम जाये। शेष तो सब नाममात्र के जैन हैं। मैं तो कहता हूँ कि वे पशु-पक्षी भी जैन हैं, जो भगवान आत्मा को जानते हैं, पहिचानते हैं, भगवान आत्मा की आराधना करते हैं। पशुओं में सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती भी होते हैं। उन सम्यग्दृष्टि और अणुव्रतियों को भी आप अजैन कहेंगे क्या ?

जैन कुल में पैदा हो जाने मात्र से कोई जैन नहीं हो जाता, समयसार या ज्ञानसमुच्चयसार का अधिकारी नहीं हो जाता।

भाई ! जबतक आत्मा का अनुभव नहीं होता, तबतक हम सब भी अजैन ही हैं, भले ही अपने को जैन मानते रहें। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए, भगवान आत्मा के दर्शन के लिए जैन-अजैन का कोई सवाल ही नहीं है। ऐसी भेद की बातें वे ही चलाते हैं, जिन्हें भगवान आत्मा की खबर नहीं है।

इसीप्रकार का प्रश्न लगभग २५–२६ वर्ष पूर्व मुझसे विदिशा में भी किया गया था, तब मैंने कहा कि भाई ! सम्यग्दर्शन तो पशुओं को भी होता है। क्या आपने जिनागम में यह नहीं पढ़ा कि भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में एवं भगवान पार्श्वनाथ के जीव ने हाथी की पर्याय में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की थी।

भाई ! धर्म करने के लिए जाति की कोई शर्त नहीं है, भगवान आत्मा के अनुभव करने की शर्त अवश्य है ।

धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं । कोई व्यक्त वस्तु का स्वभाव तो समझे नहीं और धर्म करना चाहे तो कैसे होगा ? अग्नि के स्वभाव को समझे बिना कोई अग्नि को ठंडी बताता फिरे, समझाने पर भी स्वीकार न करे तो उसके मानने मात्र से, कहने मात्र से अग्नि ठंडी तो नहीं हो जावेगी ।

उससे कहें कि भाई ! विवाद क्यों करते हो ? एक बार तो छूकर तो देखो । तब वह कहता है कि मैं क्यों देखूँ ? मैं क्यों खतरा मोल लूं ? आप ही देखो । पर भाई ! जब तुम उसे ठंडी ही मानते हो तो खतरा कहाँ है ? हम तो उसे गरम मानते हैं; अतः हमें तो उससे खतरा हो सकता है, पर तुम्हें कैसे ?

जबतक कोई तर्कसंगत बात मानने को तैयार न हो, तो फिर क्या हो सकता है ? लोग स्वयं विचार करते नहीं और समझाने पर भी स्वीकार न करें तो क्या करें ? तुम कुछ भी मानते रहो, पर अग्नि तो अपना स्वभाव छोड़नेवाली नहीं है । इसीप्रकार जगत कुछ भी माने, पर भगवान आत्मा तो अपना ज्ञानानन्द स्वभाव छोड़नेवाला नहीं है, यदि हमें धर्म करना है, सुखी होना है, तो निज भगवान आत्मा के ज्ञानानन्द स्वभाव को समझना ही होगा ।

भाई ! पर को भी जानना आत्मा का स्वभाव है; पर पर को तो मात्र जानना ही है, अपने को जानना भी है, पहिचानना भी है, उसी में जमना भी है, रमना भी है । पर को जानकर उससे उपयोग को हटाना है और अपने को जानकर उसमें उपयोग को जमाना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है ।

यह सम्पूर्ण ज्ञान का सार है, यही समयसार है, ज्ञानसमुच्चयसार है । भाई ! जीवन में करने योग्य कार्य एकमात्र यही है; अतः समस्त जगत से दृष्टि हटाकर एक भगवान आत्मा पर ही उपयोग केन्द्रित करो ।

भाई ! यह जीवन यों ही विषय-कषाय में चला जायगा । अतः समय रहते चेत जाने में ही सार है । अधिक क्या कहें ? सभी आत्मार्थी जीव तारणस्वामी के उपदेश को, आदेश को शिरोधार्य कर निज भगवान आत्मा को जानें, पहिचानें और उसी में जम जाएँ, रम जाएँ – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ ।

भगवान महावीर और उनकी अहिंसा

(मंगलाचरण)

जो राग-द्वेष विकार वर्जित लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल अचल केवलज्ञान में।।
युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।

इस मंगलाचरण में भगवान महावीर – वर्द्धमान से ध्यान में विचरण करने की प्रार्थना की गई है।

क्यों ?

क्योंकि जैन मान्यतानुसार जो जीव एक बार सिद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है, वह लौटकर दुबारा संसार में नहीं आता; अतः कवि ऐसी प्रार्थना करके कि – 'एक बार तो आना पड़ेगा, सोते हुए भारत को जगाना पड़ेगा' – अपनी प्रार्थना को निष्फल नहीं होने देना चाहता है।

जो वस्तु चली जाती है, वह लौटकर दुबारा नहीं आती। जैसे – हमारा बचपन चला गया, अब वह लौटकर नहीं आ सकता; पर वह हमारे ध्यान में तो आ ही सकता है, ज्ञान में तो आ ही सकता है।

मेरी बात पर विश्वास न हो तो आप आँख बन्दकर एक मिनट को विचार कीजिए कि जब आप छठवीं कक्षा में पढ़ते थे। होली के अवसर पर एक बार आपने गुब्बारे में पानी भरकर मास्टरजी की कुर्सी पर गद्दी के नीचे रख दिया था।

जब मास्टरजी आये और कुर्सी पर बैठे तो गुब्बारा फटा और पानी का एक फ़व्वारा छूटा, साथ ही कक्षा में एक हँसी का फ़व्वारा भी छूट गया था। पता चलने पर आपकी पिटाई भी कम न हुई थी, पर जब आज उस घटना का स्मरण आता है तो फिर वही बचपना मचल उठता है।

ऐसी कोई न कोई घटना आपके बचपन में भी अवश्य घटी होगी। भाई! जो प्यारा बचपन चला गया, वह तो लौटकर वापिस आ नहीं सकता, फिर भी वह हमारे ध्यान में तो आता ही है, ज्ञान में तो आता ही है। ठीक इसीप्रकार भगवान महावीर भी, जो पच्चीस सौ दश वर्ष पूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अब इस संसार में लौटकर वापिस नहीं आ सकते; फिर भी हमारे ज्ञान में तो आ ही सकते हैं, ध्यान में तो आ ही सकते हैं।

अतः यहाँ प्रार्थना की गई है कि –

"वे वर्द्धमान महान जिन बिचरें हमारे ध्यान में।।"

आखिर क्यों? जबकि आज का जमाना इतना बेदर्द हो गया है कि मौत कोई मायना नहीं रखती। सड़क के किनारे कोई व्यक्ति मरा या अधमरा पड़ा हो तो उसे देखते हुए हजारों लोग निकल जाते हैं; पर कोई यह नहीं सोचता कि यदि यह मर गया है तो इसके घरवालों को खबर कर दें, यदि अधमरा है तो अस्पताल ही पहुँचा दें, शायद बच जावे। सब यों ही देखते हुए निकल जाते हैं, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

आज का यह आदमी न मालूम कैसा बेरुखा हो गया है कि मौत का समाचार इसके हृदय को आन्दोलित ही नहीं करता। प्रतिदिन प्रातःकाल लोग चाय पीते-पीते समाचार-पत्र पढ़ते हैं। मजे से चाय पीते जाते हैं और पढ़ते जाते हैं कि बिहार में भयंकर बाढ़ आई है, जिसमें एक लाख लोग मारे गये हैं और दश लाख लोग बेघरबार हो गये हैं।

यह समाचार पढ़ते समय इनका हाथ नहीं काँपता, इनके हाथ से चाय का प्याला नहीं छूटता, फूटता भी नहीं है। लोग बड़े ही मजे से चाय पीते जाते हैं और पड़ौसी को समाचार सुनाते जाते हैं कि सुना भाईसाहब आपने! बिहार में भयंकर बाढ़ आई है, एक लाख लोग मारे गये हैं और दश लाख बेघरबार हो गये हैं। यह समाचार वे ऐसे चटकारे ले लेकर सुनाते हैं, जैसे उनके नगर में कोई नया सर्कस आया हो और वे उसका समाचार सुना रहे हों। यह बात कहते हुए उनके चेहरे पर कोई पीड़ा का निशान नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि आज के आदमी में मौत के प्रति वह संवेदनशीलता नहीं रही है, जो एक जमाने में थी। भाई! एक जमाना वह था, जब किसी मुहल्ले में यदि गाय मर जाती थी तो सारा मुहल्ला

तबतक मुँह में पानी भी नहीं देता था, जबतक कि गाय की लाश न उठ जाय और एक जमाना यह है कि श्मशान में भी ठाठ से चाय चलती है।

लोग शवयात्रा में भी उसी ठाठ-बाट से जाते हैं कि जिससे पता ही नहीं चलता है कि ये किसी की बरात में जा रहे हैं या शवयात्रा में। वैसी ही बातें, वैसी ही हँसी-मजाक; वही राजनैतिक चर्चायें; यदि क्रिकेट का मौसम चल रहा हो, तो बहुतों के हाथ में ट्रांजिस्टर भी मिल जावेगा, स्कोर तो सभी पूँछते ही हैं।

न मालूम क्या हो गया है आज की इस दुनिया को ? और की बात तो जाने दीजिए, सगे माँ-बाप मरते हैं तो भी यह उन्हें तीन दिन से अधिक याद नहीं रख पाता। आज मरे और कल तीसरा दिन होता है। तीसरा दिन हुआ नहीं कि किसान खेत पर चला जाता है, कहता है :– बोनी का समय है; दुकानदार दुकान खोल लेता है, कहता है :– सीजन चल रहा है; नोकरीपेशा नौकरी पर चला जाता है, कहता है :– आकस्मिक अवकाश (सी०एल०) बाकी नहीं है।

जो माँ-बाप जीवनभर पाप करके सम्पत्ति जोड़ते हैं, पाप की गठरी अपने माथे बाँधकर ले जाते हैं और कमाई बच्चों को छोड़ जाते हैं; जब वे बच्चे ही उन्हें तीन दिन से अधिक याद नहीं रख पाते तो और की क्या बात कहें ?

ऐसे संवेदनहीन बेदर्द जमाने में, जिसने २५१० वर्ष पहले देह छोड़ी हो और २५१० वर्ष बाद हम याद करें, प्रार्थना करें कि –

'वे वर्द्धमान महान जिन विचरें हमारे ध्यान में।।"

क्या तुक है इसमें ?

ऐसा क्या दिया था भगवान महावीर ने हमें, जो हम २५१० वर्ष बाद भी याद करें, उनके गीत गावें ?

भौतिकरूप से तो उन्होंने हमें कुछ भी नहीं दिया था। उनके पास था भी क्या, जो हमें देते ? वे नग्न-दिगम्बर थे, एक लंगोटी भी तो न थी उनके पास; पर भाईसाहब ! भौतिकरूप से सब-कुछ देनेवालों को भी हम कहाँ याद रखते हैं ? अभी बताया था न कि जो माँ-बाप हमें अपना सर्वस्व दे जाते हैं, हम उन्हें भी कितना याद रख पाते हैं ?

पर हम महावीर को याद तो करते ही हैं, लाखों लोग उनसे ध्यान में विचरण करने की प्रार्थना तो करते ही हैं। ऐसा क्या दिया था उन्होंने हमें ?

क्योंकि यह स्वार्थी जगत बिना प्रयोजन तो किसी को कभी याद करता ही नहीं है ।

उन्होंने हमें कुछ ऐसे सिद्धान्त दिये थे, ऐसा मार्ग बताया था कि जिन्हें हम अपना लेवें, जिस पर हम चलें तो आज भी सुख-शान्ति प्राप्त कर सकते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान महावीर ने जो रास्ता पच्चीस सौ वर्ष पहले बताया था, हो सकता है कि वह उस युग में किसी काम का रहा हो, पर आज दुनियाँ बहुत बदल गयी है; कहाँ वह बैलगाड़ी का जमाना और कहाँ यह राकेटी दुनियाँ ? पच्चीस सौ वर्ष पुरानी बातें आज किस काम की ? अतः वे कहते हैं कि आज महावीर आउट ऑफ डेट हो गये हैं ।

ऐसे लोगों से मैं कहना चाहता हूँ कि महावीर आउट ऑफ डेट नहीं, आज भी एकदम अप टू डेट हैं । मेरी यह बात शायद उन लोगों को पसन्द न आये, जो ऐसे कपड़े पहिनकर, ऐसे बाल कटाकर कि दूर से देखने पर पता ही न चले कि लड़का है या लड़की, अपने को अप टू डेट समझते हैं; पर ध्यान रहे, कोई व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट नहीं होता, अपितु अपने विचारों से होता है ।

जो व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट बनेगा, उसे एक न एक दिन आउट ऑफ डेट होना ही होगा; क्योंकि ड्रेस सदा एक सी नहीं रहती, बदलती ही रहती है । मेरे पिताजी पगड़ी बाँधा करते थे । जब वे दर्पण के सामने बैठकर पगड़ी बाँधते थे तो एक घण्टे से कम नहीं लगता था । इसीप्रकार जब पगड़ी बाँधकर बाजार से निकलते थे तो अपने को कम अप टू डेट नहीं समझते थे, पर हमने पगड़ी छोड़ दी और टोपी लगाकर अपने को अप टू डेट समझने लगे । हमारे बच्चों ने टोपी भी फेंक दी और अप टू डेट हो गये, हमें आउट ऑफ डेट कर दिया ।

भाई ! जो व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट बनेगा, उसे एक न एक दिन आउट ऑफ डेट होना ही होगा । और कोई नहीं, स्वयं के बच्चे ही उसे आउट ऑफ डेट कर देंगे ।

जब लोग पगड़ी बाँधते थे तो लोग पगड़ियाँ उछाला करते थे, जब टोपियाँ लगाने लगे तो टोपियाँ उलछने लगीं, पर आज न लोग पगड़ी बाँधते हैं न टोपी लगाते हैं तो लोगों के बाल ही उड़ने लगे । आपने

पुरुष तो गंजे बहुत देखे होंगे पर महिला एक गंजी नहीं देखी होगी । क्या आप जानते हैं कि पुरुष ही गंजे क्यों होते हैं, महिलायें क्यों नहीं ?

महिलाओं के सिर पर उड़ने के लिए साड़ी का पल्लू सदा विद्यमान रहता है, पर पुरुषों के सिर पर उड़ने के लिए कोई बाहरी वस्तु देखने में नहीं आती, अतः उनके बाल ही उड़ने लगते हैं । अभी तो बाल ही उड़े हैं, जब बाल भी न रहेंगे तो क्या उड़ेगा ? – यह समझने की बात है; अतः समझदारी इसी में है कि हमें उड़ने के लिए कोई एक बाहरी वस्तु सिर पर अवश्य रखना चाहिये ।

जो भी हो, यह बात तो बीच में यों ही आ गयी थी । अपनी बात तो यह चल रही है कि कोई भी व्यक्ति ड्रेस से अप टू डेट नहीं होता, अपितु अपने विचारों से अप टू डेट होता है ।

यदि ड्रेस से अप टू डेट मानें तब भी भगवान महावीर आउट ऑफ डेट नहीं हो सकते, क्योंकि वे विदाउट ड्रेस थे ।

मैं धोती-कुर्ता पहिनता हूँ और आप लोग सूट-पैण्ट; पर यह अन्तर तो मात्र ड्रेस का है, ड्रेस के भीतर विद्यमान शरीर तो सबका एक सा ही है ।

इस पर कोई कह सकता है कि शरीर में भी तो अन्तर देखने में आता है कि कोई गोरा है, कोई काला; कोई मोटा है, कोई पतला; कोई लम्बा है, कोई ठिगना ।

हाँ, शरीर में भी अन्तर है; पर शरीर के भीतर विद्यमान भगवान आत्मा तो सबका एक जैसा ही है । भाई ! जितना भेद दिखाई देता है, अन्तर दिखाई देता है, वह सब ऊपर-ऊपर का ही है; अन्तर की गहराई में जाकर देखें तो एक महान समानता के दर्शन होंगे ।

हाँ, तो मूल बात तो यह है कि कोई व्यक्ति ड्रेस से महान नहीं होता है, अपितु अपने विचारों से महान होता है । भगवान महावीर ने अहिंसा का जो उपदेश आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व दिया था, उसकी जितनी आवश्यकता आज है, उतनी महावीर के जमाने में भी नहीं थी, क्योंकि आज हिंसा ने भयंकर रूप धारण कर लिया है ।

कहते हैं कि पहले लोग लाठियों और पत्थरों से लड़ा करते थे । लाठियों और पत्थरों से लड़नेवाले अस्पताल पहुँचते हैं, श्मशान नहीं । तात्पर्य यह है कि वे घायल होते हैं, मरते नहीं । फिर तलवार का जमाना आया, पर तलवार की मार भी चार हाथ तक ही होती है, कोई व्यक्ति

यदि दस-बीस मीटर दूर हुआ तो तलवार बेकार है। फिर हमने और भी तरक्की की और गोलियाँ बना लीं, पर वे गोलियाँ भी एक समय में एक आदमी को ही मार सकती थीं तथा उनकी मारक क्षमता भी सौ-दो सौ मीटर तक ही थी; किन्तु आज हमने ऐसी-ऐसी गोलियाँ बना ली हैं कि एक गोली से चीन साफ हो जाय और दूसरी गोली से भारत। मारक क्षमता का भी इतना विकास कर लिया है कि अमेरिका अपने घर बैठे-बैठे ही एक बटन दबाये तो चीन साफ और दूसरा बटन दबाये तो भारत साफ।

और आप जानते हैं कि ये बटन दबाना भी किन लोगों के हाथ में है? जो दिन में तीन-तीन बोतल मदिरा पान करते हैं। भाई! जब हम गरम पानी पीनेवाले लोग भी इतना भ्रमित हो जाते हैं कि बिजली का बटन दबाना चाहते हैं और पंखा चल जाता है, भूल से बगल का बटन दब जाता है; तब उन तीन बोतल पीनेवालों का क्या कहना? यदि उन्होंने चीन का बटन दबाने की सोची और भूल से भारतवाला बटन दब गया तो क्या होगा? हम सब लोग मुफ़्त में ही मारे जावेंगे।

कहते हैं कि अमेरिका ने इतनी विनाशक सामग्री तैयार कर ली है कि यदि वह चाहे तो दुनिया को चालीस बार तबाह कर सकता है। रशिया भी आज इस स्थिति में पहुँच गया है कि पच्चीस बार दुनिया को तबाह तो वह भी कर सकता है। चीन भी आज इस स्थिति में है कि पाँच बार दुनिया की सफ़ाई कर दे। भाई! सौभाग्य कहो या दुर्भाग्य, आज भारत भी इस हालत में है कि एकाध बार तो यह काम वह भी निवटा सकता है; पर चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह दुनिया ७१ बार बर्बाद हो – ऐसा मौका कभी नहीं आयेगा, क्योंकि जब यह दुनिया एक बार बर्बाद हो जावेगी तो दुबारा बर्बाद होने को कुछ बचेगा ही नहीं।

एक बार किसी दार्शनिक से पूछा गया कि तीसरा विश्वयुद्ध कैसे लड़ा जायेगा; तो उन्होंने बताया कि तीसरे की बात तो मैं नहीं कह सकता, पर चौथा विश्वयुद्ध लाठियों और पत्थरों से ही लड़ा जायेगा। उनके कहने का तात्पर्य यह था कि यदि तीसरा विश्वयुद्ध हुआ तो वह इतना भयानक होगा, इतना विनाशक होगा कि उसमें सम्पूर्ण दुनिया तबाह हो जावेगी और हम फिर उसी आदम युग में पहुँच जावेंगे, जबकि लोग लाठियों और पत्थरों से लड़ा करते थे; अतः तीसरे विश्वयुद्ध की बात सोचना भी भयानक अपराध है, सामूहिक आत्महत्या का प्रयास है।

भाई ! आज हम बारूद के ढेर पर बैठे हैं, कहीं से भी कोई एक चिनगारी उठे और सारी दुनिया क्षणभर में तबाह हो जाय – इस स्थिति में पहुँच गये हैं। आज हिंसा इतनी खतरनाक हो उठी है, अतः भगवान महावीर की अहिंसा की आवश्यकता भी आज जितनी है, उतनी महावीर के जमाने में भी नहीं थी। भाई ! इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि महावीर आउट ऑफ डेट नहीं हुये हैं, अपितु एकदम अप टू डेट हैं।

रामायण की लड़ाई छह माह चली थी; पर उसमें मरनेवालों की संख्या हजारों ही थी, लाखों नहीं। महाभारत की लड़ाई मात्र अठारह दिन चली थी; उसमें भी मरनेवालों की संख्या लाखों ही थी, करोड़ों नहीं; पर आज का असली युद्ध यदि अठारह सैकण्ड ही चल जाय तो मरने वालों की संख्या हजारों नहीं, लाखों नहीं; करोड़ों नहीं; अरबों होगी, असंख्य होगी, अनन्त होगी।

पहले के जमाने में युद्ध के मैदान में सिपाही लड़ते थे और सिपाही ही मरते थे; पर आज युद्ध सिपाहियों तक ही सीमित नहीं रह गया है, युद्ध मैदानों तक ही सीमित नहीं रह गया है; आज उसकी लपेट में सारी दुनिया आ गयी है। आज की लड़ाइयों मे मात्र सिपाही ही नहीं मरते, किसान भी मरते हैं, मजदूर भी मरते हैं, व्यापारी भी मरते हैं, खेत-खलियान भी बर्बाद होते हैं, कल-कारखाने भी नष्ट होते हैं, बाजार और दुकानें भी तबाह हो जाती हैं। अधिक क्या कहें, आज के इस युद्ध में अहिंसा की बात कहनेवाले हम जैसे पण्डित और साधुजन भी नहीं बचेंगे, मन्दिर-मस्जिद भी साफ हो जावेंगे। आज के युद्ध सर्वविनाशक हो गये हैं। आज हिंसा जितनी भयानक हो गयी है, भगवान महावीर की अहिंसा की आवश्यकता भी आज उतनी ही अधिक हो गयी है।

इस स्थिति में भगवान महावीर को आउट ऑफ डेट कहना, अनुपयोगी कहना कहाँ तक उचित है? – यह विचारने की बात है।

आज की लड़ाइयाँ बड़ी वीतरागी लड़ाइयाँ हो गयी हैं। पहिले की लड़ाइयों में मारनेवालों को भी पता रहता था कि मैंने किसको मारा है और मरनेवालों को भी पता रहता था कि मुझे कौन मार रहा है; पर आज न मरनेवालों को पता है कि मुझे कौन मार रहा है, न मारने वालों को ही पता है कि मैं किसे मारने जा रहा हूँ।

ऊपर से राम बम फेंकता है और नीचे उसी का भाई लक्ष्मण मर जाता है और मन्दिर साफ हो जाता है। ऊपर से रहीम बम फेंकता है

और नीचे उसी का भाई करीम मर जाता है और मस्जिद साफ हो जाती है। ऊपर से हरमिन्दरसिंह बम फेंकता है और नीचे उसी का भाई गुरमिन्दरसिंह मर जाता है और गुरुद्वारा साफ हो जाता है।

जब कोई किसी पर बम फेंकता है तो यह कोई नहीं कहता कि राम ने रहीम पर बम फेंका है, सभी यही कहते हैं कि अमेरिका ने जापान पर बम फेंका था। तात्पर्य यह है कि बमों की लड़ाई वस्तुतः व्यक्तियों की लड़ाई नहीं, देशों की लड़ाई है। व्यक्तियों की अपेक्षा देशों की लड़ाई अधिक खतरनाक होती है, क्योंकि वह सामूहिक विनाश करती है।

पहले की लड़ाइयाँ व्यक्तियों के बीच होती थीं, फिर परिवारों के बीच होने लगीं। उसके बाद जातियाँ लड़ने लगीं और आज देश लड़ते हैं।

रामायण की लड़ाई दो व्यक्तियों की लड़ाई थी। राम और रावण दोनों व्यक्ति ही तो थे। रामायण की लड़ाई राम और रावण की लड़ाई ही तो कहलाती है। फिर हम महाभारत के युग में आते हैं। तबतक परिवार लड़ने लगे थे। महाभारत का युद्ध कौरवों और पाण्डवों के बीच हुआ था। कौरव और पाण्डव किसी एक व्यक्ति के नाम नहीं, परिवारों के नाम हैं।

हम और आगे बढ़ें। सन् सैंतालीस में हुये दंगे राम और रहीम के बीच नहीं, हिन्दू-मुस्लिमों के बीच हुये थे। हिन्दू और मुस्लिम दो जातियाँ हैं। सन् १९६५ एवं १९७१ में हुई लड़ाइयाँ श्री लालबहादुर शास्त्री एवं अयूबखां और श्रीमती इन्दिरा गाँधी एवं याह्याखां के बीच नहीं लड़ी गयी थीं, अपितु ये युद्ध भारत और पाकिस्तान के बीच लड़े गये थे।

भाई! जब व्यक्ति लड़ते हैं तो व्यक्ति बर्बाद होते हैं, जब परिवार लड़ते हैं तो परिवार बर्बाद होते हैं, जब जातियाँ लड़ती हैं तो जातियाँ बर्बाद होती हैं और जब देश लड़ते हैं तो देश बर्बाद होते हैं।

देश का अर्थ मात्र आदमी नहीं होता है। देश में आदमियों के साथ पशु-पक्षी भी होते हैं, खेत-खलियान भी होते हैं, कल-कारखाने भी होते हैं और मन्दिर-मस्जिद भी होते हैं। देश बर्बाद होने का अर्थ है इन सभी का बर्बाद होना, विनाश होना। कहते हैं कि जहाँ अणुबम गिरता है, वहाँ आदमी के साथ-साथ पशु-पक्षी भी मरते हैं, कीड़े-मकोड़े भी मरते

हैं, पेड़-पौधे भी नष्ट होते हैं; यहाँ तक कि जहाँ अणुबम गिरता है, वहाँ की जमीन भी ऐसी हो जाती है कि हजार वर्ष तक घास भी न उगे।

भाई! आज हिंसा का भी राष्ट्रीयकरण हो गया है। वह भी अब व्यक्तिगत नहीं रही है।

विनाश की इस प्रलयंकारी बाढ़ को रोकने में यदि कोई समर्थ है तो वह एक मात्र भगवान महावीर की अहिंसा; अतः मैं कहता हूँ कि भगवान महावीर की अहिंसा की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी भगवान महावीर के जमाने में भी नहीं थी; इसलिए कहा जा सकता है कि भगवान महावीर आज भी अप टू डेट हैं।

यह बात तो हुई आज के संदर्भ में भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धान्त की उपयोगिता की; पर मूल बात तो यह है कि भगवान महावीर की दृष्टि में अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है?

आज यह प्रचलन-सा हो गया है कि जब कोई व्यक्ति अहिंसा की बात कहेगा तो कहेगा कि हिंसा मत करो – बस यही अहिंसा है; पर हिंसा का भी तो वास्तविक स्वरूप कोई स्पष्ट नहीं करता। यदि हिंसा को छोड़ना है और अहिंसा को जीवन में अपनाना है तो हमें हिंसा-अहिंसा के स्वरूप पर गहराई से विचार करना होगा, बिना समझे किया गया ग्रहण-त्याग अनर्थक ही होता है अथवा सम्यक् समझ बिना ग्रहण और त्याग संभव ही नहीं है। जैसा कि कहा गया है :–

"संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने"[1]

अथवा

"बिन जाने तें दोष-गुनन को कैसे तजिए?"[2]

अतः हिंसा के त्याग और अहिंसा के ग्रहण के पूर्व उन्हें गहराई से समझना अत्यन्त आवश्यक है।

एक बार महर्षि व्यास के पास कुछ शिष्यगण पहुँचे और उनसे निवेदन करने लगे :–

"महाराज! आपने तो अठारह पुराण बनाये हैं। संस्कृत भाषा में लिखे गये ये मोटे-मोटे पोथन्ने पढ़ने का न तो हमारे पास समय ही है और न हम संस्कृत भाषा ही जानते हैं। हम तो अच्छी तरह हिन्दी भी नहीं जानते हैं तो संस्कृत में लिखे ये पुराण कैसे पढ़ें? हमारे पास इतना

---

[1] महाकवि तुलसीदास : रामचरितमानस

[2] कविवर दौलतराम : छहढाला; तीसरी ढाल, छन्द ११

समय भी नहीं है कि हम इन्हें पूरा पढ़ सकें। अतः हमारे हित की बात हमें संक्षेप में समझाइये न ?"

उनकी बात सुनकर महाकवि व्यास बोले :–

"भाई ! ये अठारह पुराण तो हमने हम जैसों के लिए ही बनाये हैं, तुम्हारे लिए तो मात्र इतना ही पर्याप्त है :–

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।।

अठारह पुराणों में महाकवि व्यास ने मात्र दो ही बातें कही हैं कि यदि परोपकार करोगे तो पुण्य होगा और पर को पीड़ा पहुँचाओगे तो पाप होगा।

मात्र इतना जान लो, इतना मान लो और सच्चे हृदय से जीवन में अपना लो – तुम्हारा जीवन सार्थक हो जायेगा।"

मानों इसीप्रकार भगवान महावीर के अनुयायी भी उनके पास पहुँचे और कहने लगे कि महर्षि व्यास ने तो अठारह पुराणों का सार दो पंक्तियों में बता दिया; आप भी जैनदर्शन का सार दो पंक्तियों में बता दीजिये न, हमें भी ये प्राकृत-संस्कृत में लिखे मोटे-मोटे ग्रन्थराज समयसार, गोम्मटसार पढ़ने की फुर्सत कहाँ है ?

मानों उत्तर में महावीर कहते हैं :–

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।[1]

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है – यही जिनागम का सार है।"[2]

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है – यह कहकर यहाँ भावहिंसा पर विशेष बल दिया है, द्रव्यहिंसा की चर्चा तक नहीं की; अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या महावीर द्रव्यहिंसा को हिंसा ही नहीं मानते हैं ? यदि मानते हैं तो फिर सीधे-सच्चे शब्दों

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४४

[2] इसी प्रकार की एक गाथा कषायपाहुड़ में प्राप्त होती है, जो इसप्रकार है :–

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं ति देसिदं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ।।

में यह क्यों नहीं कहते कि दुनियाँ में मारकाट का होना हिंसा है और दुनियाँ में मारकाट का नहीं होना ही अहिंसा ?

– यह हिंसा-अहिंसा की सीधी-सच्ची सरल परिभाषा है, जो सबकी समझ में सरलता से आ सकती है; व्यर्थ ही वाग्जाल में उलझाकर उसे दुरूह क्यों बनाया जाता है ?

भाई ! ऐसी बात नहीं है। भगवान महावीर द्रव्यहिंसा को भी स्वीकार करते हैं। उनके आशय को हमें गहराई से समझना होगा। यह तो आप जानते ही हैं कि हिंसा तीन प्रकार से होती है :– मन से, वचन से और काया से।

काया की हिंसा को तो सरकार रोकती है। यदि कोई किसी को जान से मार दे तो उसे पुलिस पकड़ लेगी, उस पर मुकदमा चलेगा और फांसी की सजा होगी। फांसी की सजा न हुई तो आजीवन कारावास होगा। न मारे, पीटे तो भी पुलिस पकड़ेगी, मुकदमा चलेगा और दो-चार वर्ष की सजा होगी; पर यदि कोई किसी को वाणी से मारे अर्थात् जान से मारने की धमकी दे, गालियाँ दे, भला-बुरा कहे तो सरकार कुछ नहीं कर सकती।

एक बार मैं पुलिस थाने में गया। वहाँ उपस्थित पुलिस इंस्पेक्टर से मैंने कहा :–

"इंस्पेक्टर साहब ! अमुक व्यक्ति मुझे जान से मारने की धमकी देता है, मुझे जान का खतरा है।"

तब वे बोले :– "इसमें मैं क्या कर सकता हूँ ?"

मैंने कहा :– "क्या कहा, आप क्या कर सकते हैं ? अरे भाई ! आप इन्तजाम कीजिये। ऐसा कीजिये कि दो सिपाही मेरे साथ कर दीजिये।"

वे मुस्कराते हुए बोले :–

"भाई ! यदि हर सामान्य व्यक्ति के साथ दो पुलिसवाले लगाने लगें तो आप जानते हैं कि भारत में साठ करोड़ आदमी रहते हैं, अतः एक अरब और बीस करोड़ पुलिसवाले चाहिये। बोलो, इतनी पुलिस कहाँ से लायें ?"

मैंने कहा :– "यह तो आप ठीक ही कहते हैं; पर मैं क्या करूँ? मुझे तो जान का खतरा है।"

बड़ी ही गंभीरता से वे कहने लगे :–

"ऐसा कीजिये, आप रिपोर्ट लिखा दीजिये।"

इस पर मैंने कहा :– "इससे क्या होगा ?"

तब बड़े ही इत्मीनान से सिगरेट पीते हुए बोले :–

"आप चिन्ता न कीजिये। जब आपकी हत्या हो जावेगी, तब उन्हें शीघ्रातिशीघ्र गिरफ्तार कर लिया जावेगा।"

मैंने घबड़ाते हुए कहा :– "अच्छा इन्तजाम है, मरने के बाद होगा, पहले कुछ नहीं हो सकता।"

मायूस से होते हुए वे कहने लगे :–

"भाई ! हम क्या करें ? आप ही बताइये कि ऐसा कौन-सा कानून है, जिसके तहत हम अपराध हुये बिना ही किसी को गिरफ्तार कर लें, सदा के लिए जेल में डाल दें ? अधिक से अधिक यह हो सकता है कि हम गंभीर शिकायत पर उनके जमानत-मुचलके करा लें। इससे अधिक कुछ नहीं हो सकता। आपकी शिकायत पर न तो उन्हें हम गिरफ्तार करके सदा के लिए जेल में ही डाल सकते हैं और न आपके साथ पुलिस वाले ही लगा सकते हैं।"

जब मैंने उक्त स्थिति पर गम्भीरता से विचार किया तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कानून तो ठीक ही है; क्योंकि हम लोग वाणी से इतने हत्यारे हो गये हैं कि जिसने जीवन में एक भी जीव की हत्या न की होगी, वह भी दिन में वाणी से दस-बीस बार दस-बीस की हत्या तो कर ही डालता है। बात-बात में हम वाणी की हत्या पर उतर आते हैं। रेल में बैठे हों, मोटर में बैठे हों; पास बैठे आदमी से कहेंगे :—

"भाई ! जरा उधर सरकना; मैं भी बैठ जाऊँ।"

इस पर वह अकड़ जायगा। फिर क्या है, आप भी कब पीछे रहनेवाले हैं ? जोर-जोर से कहने लगते हैं :—

"क्या तूने ही टिकट लिया है, हमने टिकट नहीं लिया क्या ? चल हट, नहीं अभी ही खुदा का प्यारा हो जायगा।"

बात-बात में हर किसी को भगवान के पास भेजने की सोचने लगते हैं, कहने लगते हैं। अब आप ही अपनी छाती पर हाथ रखकर बताइये कि यदि वाणी की हिंसा पर पुलिस-कार्यवाही होने लगे तो हम और आप में से कौन जेल के बाहर रहेगा ? चिन्ता करने की बात नहीं है, क्योंकि जेलों में इतनी जगह ही नहीं है कि जहाँ वाणी के हत्यारों को रखा जाय।

गई ! ये माताएँ-बहिनें हैं न; बड़ी धर्मात्मा, इतनी धर्मात्मा कि प्रातःकाल उठेंगी तो स्वयं नहायेंगी, गाय को नहायेंगी, बाल्टी को नहायेंगी; उसमें निकला दूध पियेंगी। सोचो आप, कितनी धर्मात्मा होंगी ?

माघ का महीना हो, भयंकर सर्दी पड़ रही हो, माँ रसोई बना रही हो और उसका दो वर्ष का बालक चौके के बाहर रो रहा हो, माँ के पास जाना चाहता हो; पर माँ कहती है :–

"यदि मेरे पास चौके में आना हो तो कपड़े खोलकर आ, अन्यथा मेरा चौका अपवित्र हो जायगा।"

बच्चा यदि कपड़े खोलता है तो निमोनिया हो जाने का अंदेशा है और कपड़ा नहीं खोलता है तो माँ के पास जाना संभव नहीं है। आखिर बेचारा करे तो क्या करे ? अन्त में होता यही है कि वह बालक चौके की सीमा-रेखा का बार-बार उसीप्रकार उल्लंघन करता है, चौके की सीमा पर बार-बार उसीप्रकार छेड़खानी करता है, जिसप्रकार पाकिस्तान काश्मीर की सीमा पर किया करता है।

तथा जिसप्रकार भारत सरकार बार-बार कड़े विरोधपत्र भेजा करती है, उसीप्रकार वह धर्मात्मा माँ भी बार-बार धमकियाँ दिया करती है कि यदि कपड़े खोले बिना चौके की सीमा में प्रवेश किया तो जिन्दा जला दूंगी, जिन्दा। चूले में से जलती हुई लकड़ी निकालकर बच्चे को बार-बार दिखाती हुई धमकाती है, कहती है :–

"देख ! यदि कपड़े खोले बिना अन्दर पाँव भी रखा तो समझ ले कि जिन्दा जला दूंगी, जिन्दा....."

अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि यदि वह बच्चा पुलिस में जाकर रिपोर्ट लिखाये कि मेरी माँ मुझे जिन्दा जलाने की धमकी देती है तो क्या पुलिसवाले उस माँ को भी गिरफ्तार कर लें ? शायद यह आपको भी स्वीकृत न होगा।

भाई ! जो माँ अपने बच्चे को जिन्दा जलाना तो दूर, यदि स्वप्न में भी उसकी मात्र अंगुली जलता देख ले तो बेहोश हो जाय, वह माँ भी जब वाणी से इतनी हत्यारी हो सकती है तो फिर दूसरों की क्या कहना ? अतः कानून तो ठीक ही है कि वह वाणी की इस हिंसा को नजरन्दाज ही करता है; पर बात यह है कि भले ही सरकार न रोके, पर वाणी की हिंसा भी रुकना तो चाहिए ही।

हाँ, रुकना चाहिए, अवश्य रुकना चाहिए। काया की हिंसा को सरकार रोकती है तो वाणी की हिंसा को समाज रोकता है।

कैसे ?

जो लोग वाणी का सदुपयोग करते हैं, समाज उनका सन्मान करता है और जो दुरुपयोग करते हैं, समाज उनका अपमान करता है; अपनी सज्जनता के खातिर अपमान न भी करे तो कम से कम सन्मान तो नहीं करता।

आप सब बड़े-बड़े लोग नीचे बैठ गये हैं और मुझे यहाँ ऊपर गद्दी पर बिठा दिया है। क्यों, ऐसा क्यों किया आप सबने ? इसीलिए न कि मैं आपको भगवान महावीर की अच्छी बातें बता रहा हूँ !

यदि मैं अभी यहीं बैठा-बैठा स्पीकर पर ही आप सबको गालियाँ देने लगूं तो क्या होगा ? क्या आप मुझे इतने सन्मान से दुबारा बुलायेंगे ?

नहीं, कदापि नहीं। देखो ! यह आपके अध्यक्ष महोदय क्या कह रहे हैं ? ये कह रहे हैं कि आप दुबारा बुलाने की बात कर रहे हैं, अरे अभी तो अभी की सोचो कि अभी क्या होगा ?

भाई ! जो व्यक्ति अपनी वाणी का सदुपयोग करता है, समाज उसका सन्मान करता है और जो दुरुपयोग करता है, उसकी उपेक्षा या अपमान। इसप्रकार सन्मान के लोभ से एवं उपेक्षा या अपमान के भय से हम बहुत-कुछ अपनी वाणी पर भी संयम रखते हैं; पर यदि मैं अभी यहीं बैठे-बैठे आप सबको मन में गालियाँ देने लगूं तो मेरा क्या कर लेगा समाज और क्या कर लेगी सरकार ?

यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि न जहाँ सरकार का प्रवेश है और न जहाँ समाज की चलती है, धर्म का काम वहाँ से आरंभ होता है; अतः उन्होंने ठीक ही कहा है कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति ही हिंसा है और आत्मा में रागादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है – यही जिनागम का सार है।

भगवान महावीर ने हिंसा-अहिंसा की परिभाषा में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग क्यों किया है – यह बात तो स्पष्ट हुई। ध्यान रहे – यहाँ समझाने के लिए आत्मा और मन को अभेद मानकर बात कही जा रही है।

पहिले हिंसा आत्मा अर्थात् मन में उत्पन्न होती है। यदि क्रोधादि-रूप हिंसा मन में न समाये तो फिर वाणी में प्रकट होती है। यदि वाणी से भी काम न चले तो काया में प्रस्फुटित होती है। हिंसा की उत्पत्ति का यही क्रम है।

अभी अपनी यह सभा शान्ति से चल रही है। पर यदि कुछ लोग इसमें उपद्रव करने लगें तो क्या होगा? चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, यहाँ कोई उपद्रव होनेवाला नहीं है; मैं तो अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मात्र उदाहरण दे रहा हूँ।

हाँ, तो आप बताइये कि यहाँ अभी उपद्रव होने लगे तो क्या होगा?

होगा क्या? कुछ नहीं। कुछ देर तो कुछ नहीं होगा, जबतक व्यवस्थापकों का क्रोध मन तक ही सीमित रहेगा, तबतक तो कुछ नहीं होगा; पर जब क्रोध उनके मन में समायेगा नहीं तो मेरा व्याख्यान बन्द हो जायगा और यह स्पीकर व्यवस्थापक महोदय के हाथ में होगा। वे लोगों से कहेंगे कि जिसको सुनना हो, शान्ति से सुनिये; यदि नहीं सुनना है तो अपने घर चले जायँ, यहाँ उपद्रव करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि इतने से भी काम न चले और उपद्रव बढ़ता ही चला जाय तो वे उत्तेजित होकर आदेश देने लगेंगे कि वालिन्टियरों! इन्हें बाहर निकाल दो।

इसप्रकार हम देखते हैं कि क्रोधादि भावोंरूप हिंसा की उत्पत्ति पहले मन में, फिर वचन में और उसके बाद काया में होती है। भगवान महावीर ने सोचा कि चोर से निपटने की अपेक्षा तो चोर की अम्मा से निपट लेना अधिक अच्छा है कि जिससे चोर की उत्पत्ति ही संभव न रहे। यदि हिंसा मन में ही उत्पन्न न होगी तो फिर वाणी और काया में प्रस्फुटित होने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा।

अतः भगवान महावीर ने हिंसा के मूल पर प्रहार करना उचित समझा। यही कारण है कि वे कहते हैं कि आत्मा में रागादि की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है।

भाई! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी।

एक मास्टरजी थे। यदि कोई मास्टरजी यहाँ बैठे हों तो नाराज मत होना। वैसे मैं भी तो मास्टर ही हूँ। चिन्ता की कोई बात नहीं है।

हाँ तो एक मास्टरजी थे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि आज रोटी जरा जल्दी बनाना, मुझे स्कूल जल्दी जाना है।

मास्टरनी बोली :– "आज रोटी जल्दी नहीं बन सकती, क्योंकि जयपुर से एक दुबले-पतले से पंडित आये हैं; मैं तो उनका प्रवचन सुनने जाऊँगी।"

मास्टरजी गर्म होते हुए बोले :– "मैं कुछ नहीं समझता, रोटी जल्दी बनना चाहिए।"

बेचारी मास्टरनी घबड़ा गई, आधा प्रवचन छोड़कर आई, जल्दी-जल्दी रोटी बनाई; पर जबतक रोटी बनती, तबतक मास्टरजी का माथा मास्टरनी के तवा से भी अधिक गर्म हो गया था और रोटी बन जाने पर भी मास्टरजी बिना रोटी खाये ही स्कूल चले गये।

अब आप ही बताइये कि मास्टरनी को कितना गुस्सा आया होगा? प्रवचन भी छूटा और मास्टरजी भी भूखे गये, पर क्या करे? मास्टरजी तो चले गये, घर पर बेचारे बच्चे थे; उसने उनकी धुनाई शुरू कर दी।

गुस्सा तो मास्टरजी को भी कम नहीं आ रहा था, क्योंकि भूखे थे न; पर स्कूल में न तो मास्टरनी ही थी और न घर के बच्चे, पराये बच्चे थे; उन्होंने उनकी धुनाई आरंभ कर दी।

भाई! यदि हिंसा एक बार आत्मा में – मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रकट अवश्य होगी; अतः भगवान महावीर ने कहा कि बात ऐसी होनी चाहिए कि हिंसा लोगों के मन में – आत्मा में ही उत्पन्न न हो – यही विचार कर उन्होंने हिंसा-अहिंसा की परिभाषा में यह कहा कि आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और आत्मा में रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है।

भगवान महावीर का पच्चीससौवाँ निर्वाणवर्ष था। सारे भारत वर्ष में निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रम बड़े जोर-शोर से चल रहे थे। भगवान महावीर का धर्मचक्र एवं एक हजार यात्रियों को साथ लेकर हम भी सारे देश में भगवान महावीर का संदेश देते फिर रहे थे। उत्तर-दक्षिण पूर्व-पश्चिम के सभी तीर्थों की तीन मास तक यात्रा करते हुए अन्त में गुजरात पहुँचे।

वहाँ की एक सभा में भगवान महावीर के इसी अहिंसा सन्देश को हम जनता जनार्दन तक पहुँचा रहे थे कि अध्यक्ष पद पर विराजमान महानुभाव बोले :–

"यह तो ठीक, पर आप तो यह बताइये कि यह हिंसा रुके कैसे ?"

हमने कहा :– "हाँ, बताते हैं; यह भी बताते हैं। सुनिये तो सही ! इस गुजरात प्रान्त में शराबबन्दी लागू है, फिर भी लोग शराब तो पीते ही हैं। अब आप ही बताइये कि यह शराबबन्दी सफल कैसे हो ?"

हमने अपनी बात को विस्तार देते हुए कहा कि :–

"एक उपाय तो यह है कि बाजार में कोई व्यक्ति शराब पीकर डोलता हो तो उसे पुलिसवाले पकड़ लें, दो-चार चाँटा मारें, जेब में दश-बीस रुपये हों, उन्हें छीनकर छुट्टी कर दें; तो क्या शराबबन्दी सफल हो जावेगी ?"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"तो क्या करना होगा ?"

"जबतक उन होटलों पर छापा नहीं मारा जायगा, जिन होटलों में यह अवैध शराब बिकती है, तबतक सफलता मिलना संभव नहीं है।"

"हाँ, यह बात तो ठीक है; पर पुलिस उन होटलों पर छापा मारे, दश-बीस बोतल शराब मिले, मिल-बाँट कर उसे पी लें और दो-चार सौ रुपये लेकर उसकी छुट्टी कर दें तो भी क्या शराबबन्दी सफल हो जावेगी ?"

"नहीं, इससे भी कुछ होनेवाला नहीं है।"

"तो क्या करना होगा ?"

"जबतक उन अड्डों को बर्बाद नहीं किया जायगा, नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया जायगा, जिन अड्डों पर लुक-छिपकर यह अवैध शराब बनाई जाती है, तबतक सफलता मिलना असंभव ही है; क्योंकि यदि अड्डों पर शराब बनेगी तो मार्केट (बाजार) में आयेगी, आयेगी, अवश्य आयेगी; जायेगी कहाँ ? जब मार्केट में आयेगी तो लोगों के पेट में भी जायेगी, अन्यथा जायेगी कहाँ ? जब लोगों के पेट में जायेगी तो उनके माथे में भी भन्नायेगी ही।

यदि हम चाहते हैं कि शराब लोगों के माथे में न भन्नाये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह लोगों के पेट में न जाये; यदि हम चाहते हैं कि शराब लोगों के पेट में न जाये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह मार्केट में न आये; यदि हम चाहते हैं कि वह मार्केट में न आये तो हमें इन्तजाम करना होगा कि वह बने ही नहीं। भाई! इतना किए बिना काम नहीं चलेगा।

इसीप्रकार यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन में हिंसा प्रस्फुटित ही न हो तो हमें उसे आत्मा के स्तर पर, मन के स्तर पर ही रोकना होगा; क्योंकि यदि आत्मा या मन के स्तर पर हिंसा उत्पन्न हो गई तो वह वाणी और काया के स्तर पर भी प्रस्फुटित होगी ही।

यही कारण है कि भगवान महावीर बात की तह में जाकर बात करते हैं और कहते हैं कि यदि हिंसा को रोकना है तो उसे आत्मा और मन के स्तर पर ही रोकना होगा। जबतक लोगों के दिल साफ़ नहीं होंगे, जबतक लोगों की आत्मा में निर्मलता नहीं होगी, तबतक हिंसा के अविरल-प्रवाह को रोकना संभव न होगा।

यह बात तो यह हुई कि हिंसा-अहिंसा की परिभाषा में 'आत्मा' शब्द का उपयोग क्यों किया गया है? पर अब बात यह है कि भगवान महावीर यहाँ रागादि भावों की उत्पत्ति को ही हिंसा कह रहे हैं।

भाई! जिस रागभाव अर्थात् प्रेमभाव को सारा जगत् अहिंसा माने बैठा है, भगवान महावीर उस रागभाव को ही हिंसा बता रहे हैं। बात जरा खतरनाक है; अतः सावधानी से सुनने की आवश्यकता है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित अहिंसा की इसी विशेषता के कारण कहा जाता रहा है कि अन्य दर्शनों की अहिंसा जहाँ समाप्त होती है, जैनदर्शन की अहिंसा वहाँ से आरम्भ होती है।

सारी दुनिया कहती है कि प्रेम से रहो और महावीर कहते हैं कि यह प्रेम – यह राग भी हिंसा है। है न बात अद्भुत! पर सिर हिलाने से काम नहीं चलेगा, बात को गहराई से समझना होगा। न तो इस बात से असहमत होकर उपेक्षा करने से ही बात बनेगी और न बिना समझे स्वीकार कर लेने से कुछ होनेवाला है। बात को बड़े ही धैर्य से, गहराई से समझना होगा।

सुनो ! डॉक्टर दो प्रकार के होते हैं – कलम के और मलम के। शोध-खोज करनेवाले पीएच०डी० आदि कलम के डॉक्टर हैं और ऑपरेशन करनेवाले मलम के डॉक्टर हैं।

जब कोई मलम का डॉक्टर किसी मरीज का ऑपरेशन करता है तो मरीज होता है एक और डॉक्टर होते हैं कम से कम दो तथा चार नर्सें भी साथ होती हैं; मरीज रहता है बेहोश और डॉक्टर रहते हैं होश में। अतः ऑपरेशन के समय यदि मरीज मर जाय तो सम्पूर्ण जिम्मेदारी एक प्रकार से डॉक्टर की ही होती है; पर जब वाणी का डॉक्टर ऑपरेशन करता है तो डॉक्टर होता है अकेला और मरीज होते हैं हजार-दो हजार, दश-पाँच हजार भी हो सकते हैं; डॉक्टर के साथ मरीज भी पूरे होश में रहते हैं। अतः यदि कोई हानि हो तो मरीज और डॉक्टर दोनों की समानरूप से जिम्मेदारी रहती है।

डॉक्टर किसी मरीज का ऑपरेशन कर रहा हो; मरीज की बेहोशी उतनी गहरी न हो, जितना गहरा ऑपरेशन हो रहा हो; – ऐसी स्थिति में कदाचित् मरीज को ऑपरेशन के बीच में ही होश आ जाय तो क्या होगा ? सोचा है कभी आपने ?

यदि मरीज डरपोक हुआ तो ऑपरेशन की टेबल से भागने की कोशिश करेगा और यदि क्रोधी हुआ तो डाक्टर को भी भगा सकता है; पर ध्यान रहे – ऐसी हालत में चाहे मरीज भागे, चाहे डॉक्टर को भगाये, मरेगा मरीज ही, डाक्टर मरनेवाला नहीं है; अतः भला इसी में है कि जो भी हो, तबतक चुपचाप लेटे रहने में ही मरीज का लाभ है, जबतक कि ऑपरेशन होकर टांके न लग जायें; लग ही न जायें, अपितु लगकर, सूखकर डॉक्टर द्वारा खोल न दिये जायें।

भाई ! यह कहकर कि रागादिभावों की उत्पत्ति ही हिंसा है, प्रेमभाव भी हिंसा ही है, मैंने आप सबका पेट चीर दिया है। यह सुनकर किसी को अरुचि उत्पन्न हो सकती है, किसी को क्रोध भी आ सकता है; कोई सभा छोड़कर भी जा सकता है, कोई ताकतवर मेरा बोलना भी बन्द करा सकता है; पर ध्यान रहे चाहे आप भागें, चाहे मुझे भगा दें; नुकसान आपका ही होगा, मेरा नहीं।

अतः भला इसी में है कि अब आप चुपचाप शान्ति से तबतक बैठे रहे, जबतक कि बात पूरी तरह साफ न हो जाय, स्पष्ट न हो जाय।

हाँ, तो भाई ! बात यह है कि महावीर रागभाव को प्रेमभाव को भी हिंसा कहते हैं। भाई ! जिसे तुम प्रेम से रहना कहते हो, शान्ति से रहना कहते हो, वह प्रेम ही तो अशान्ति का वास्तविक जनक है, हिंसा का मूल है।

यह तो आप जानते ही हैं कि दुनिया में सर्वाधिक द्रव्यहिंसा युद्धों में ही होती है और युद्ध तीन कारणों से ही होते रहे हैं। वे तीन कारण हैं :– जर, जोरू और जमीन। जर माने रुपया-पैसा धन-सम्पत्ति, जोरू माने पत्नी – स्त्री और जमीन तो आप जानते ही हैं।

रामायण का युद्ध जोरू के कारण ही हुआ था। राम की जोरू (पत्नी) को रावण हर ले गया और रामायण का प्रसिद्ध युद्ध हो गया।

इसीप्रकार महाभारत का युद्ध जमीन के कारण हुआ था।

पाण्डवों ने कौरवों से कहा :–

"यदि आप हमें पाँच गाँव भी दे दें तो हम अपना काम चला लेंगे।"

पर कौरवों ने उत्तर दिया :– "बिना युद्ध के सुई की नोंक के बराबर भी जमीन नहीं मिल सकती।"

बस फिर क्या था ? महाभारत मच गया।

'पैसे के कारण भी युद्ध होता है' – यह बात सिद्ध करने के लिए भी क्या पुराणों की गाथाएँ खोजनी होंगी, इतिहास के पन्ने पलटने होंगे; विशेषकर व्यापारियों की सभा में, जिनकी सारी लड़ाइयाँ पैसों के पीछे ही होती हैं, जिनका मौलिक सिद्धान्त है कि चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।

भाई ! यह आपकी ही बात नहीं है। आज तो सारी दुनिया ही व्यापारी हो गई है। डॉक्टरी जैसा सेवा का काम भी आज व्यापार हो गया है। धर्म के नाम पर भी अनेक दुकानें खुल गई हैं।

आज तो सभी लड़ाइयाँ व्यापार के लिए ही लड़ी जाती हैं। एक देश दूसरे देश पर आक्रमण भी उस देश में अपना व्यापार स्थापित करने के लिए ही करता है। बड़े देश छोटे देशों को हथियार बेचने के लिए उन्हें आपस में भिड़ाते रहते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जगत में जितने भी युद्ध होते हैं, वे प्रायः जर, जोरू और जमीन के कारण ही होते हैं।

अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि जर, जोरू और जमीन के कारण जो युद्ध होते हैं; वे जर, जोरू और जमीन के प्रति राग के कारण होते हैं या द्वेष के कारण ?

यह बात तो हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है कि जर, जोरू और जमीन के प्रति राग के कारण ही युद्ध होते हैं, द्वेष के कारण नहीं। रामायण के युद्ध के सन्दर्भ में विचार करें तो श्री रामचन्द्रजी को तो महारानी सीता से अगाध स्नेह (राग) था ही, पर रावण को भी द्वेष नहीं था। यदि द्वेष होता तो वह सीताजी का हरण न करता, उन्हें घर न ले जाता, सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान न करता, स्वयं को स्वीकार कर लेने के लिए प्रार्थनाएँ न करता और इसप्रकार के प्रलोभन नहीं देता कि तुम मुझे स्वीकार कर लो, मैं तुम्हें पटरानी बनाऊँगा, मन्दोदरी से भी अधिक सम्मान दूँगा।

यह सब उसके राग को ही सूचित करता है, द्वेष को नहीं। इसप्रकार की प्रवृत्ति राग का ही परिणाम हो सकती है, द्वेष का नहीं।

यद्यपि यह सत्य है कि रावण का यह प्रेम वासनाजन्य परस्त्री-प्रेम होने से सर्वथा अनुचित है; पर है तो प्रेम ही, राग ही। अतः सहज ही सिद्ध है कि रामायण का युद्ध नारी के प्रति प्रेम के कारण ही हुआ था, नारी के प्रति राग के कारण ही हुआ था।

इसीप्रकार कौरवों को तो जमीन से राग था ही, पर पाण्डवों को भी जमीन से राग ही था, द्वेष नहीं; अन्यथा वे पाँच गाँव भी क्यों माँगते ?

इस पर आप कह सकते हैं कि आप क्या बात करते हैं, वे बिचारे रहते कहाँ ? पर मैं कहता हूँ कि रहने के लिए गाँवों की क्या आवश्यकता है ? मेरे पास तो एक इंच जमीन भी नहीं है, पर मैं तो बड़े आराम से रह रहा हूँ, उन्हें गाँवों की क्या आवश्यकता थी ? वनवास के काल में भी तो वे बारह वर्ष तक बिना गाँवों के रहे थे, आखिर अब क्या आवश्यकता आ पड़ी थी, जो गाँव माँगने लगे और न मिलने पर युद्ध पर उतारू हो गये।

पर भाईसाहब ! सच्ची बात तो यह है कि उनके मन में भी राग था कि न सही चक्रवर्ती सम्राट, पाँच गाँव के जमींदार ही बन जावेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि महाभारत की लडाई भी जमीन के प्रति राग के कारण ही लड़ी गई थी।

पैसों के पीछे जो लड़ाइयाँ होती हैं, वे भी पैसों के प्रति राग के कारण ही होती हैं, द्वेष के कारण नहीं।

अतः यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि युद्धों में होनेवाली सर्वाधिक द्रव्यहिंसा के मूल में राग ही कार्य करता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने रागादिभावों की उत्पत्ति को हिंसा कहा है और रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होने को अहिंसा घोषित किया है।

मात्र युद्धों में होनेवाली हिंसा ही नहीं, अपितु खान-पान एवं भोग-विलास में होनेवाली हिंसा के मूल में भी मुख्यरूप से राग ही कार्य करता है। माँसभक्षी लोग उसी प्राणी का माँस खाते हैं, जिसका माँस उन्हें अच्छा लगता है। प्रिय भोजन में प्राणियों का सहज अनुराग ही देखा जाता है, द्वेष नहीं। अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के मूल में भी लोलुपता अर्थात् राग ही कार्य करता है।

लोग व्यर्थ ही कहते हैं कि बिल्ली को चूहे से जन्म-जात वैर है, पर यह कैसे संभव है? क्या किसी को अपनी प्रिय भोज्य सामग्री से भी वैर होता है? बिल्ली तो चूहे को बड़े चाव से खाती है। आप ही बताइये, क्या आपको शुद्ध, सात्विक, प्रिय आहार से द्वेष है, जो आप उसे चबाकर खा जाते हैं?

भाई! जिसप्रकार आप अपने योग्य शुद्ध, सात्विक, प्रिय खाद्य पदार्थों को प्रेम से खाते हैं; उसीप्रकार सभी प्राणी अपनी-अपनी भोज्य-सामग्री का रागवश ही उपभोग करते हैं।

अतः यह सहज ही सिद्ध होता है कि खान-पान संबंधी हिंसा में भी राग ही मूल कारण है।

इसीप्रकार पाँचों इन्द्रियों के भोग भी राग के कारण ही भोगे जाते हैं। क्रूरतम हिंसा से उत्पन्न शृंगार-सामग्रियों के उपयोग के मूल में भी राग ही कार्य करता देखा जाता है। जिन्दा पशुओं की चमड़ी उतारकर बनाई गई चमड़े की वस्तुओं का उपयोग भी अज्ञानी जीव प्रेम से ही करते हैं, उनके प्रति आकर्षण का कारण राग ही है।

भाई! अधिक क्या कहें? अकेली हिंसा ही नहीं, पाँचों पापों का मूल कारण एकमात्र रागभाव ही है। लोभरूप राग के कारण ही लोग झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, परिग्रह जोड़ते हैं।

झूठ बोलकर लोगों को ठगनेवाले लोग पैसे के प्रति ममता के कारण ही तो ऐसा करते हैं। चोर सेठजी की तिजोरी, उसमें रखे पैसों

के लोभ के कारण ही तोड़ता है, सेठजी के प्रति द्वेष के कारण नहीं। यदि उसे सेठ से द्वेष होता तो वह सेठजी की तिजोरी नहीं तोड़ता, खोपड़ी खोलता। इसीप्रकार समस्त बाह्य परिग्रह जोड़ने के मूल में बाह्य वस्तुओं के प्रति राग ही कार्य करता है।

माता-बहिनों की इज्जत भी रागी ही लूटते हैं, द्वेषी नहीं। इतिहास उठाकर देख लो, आजतक जितनी भी माता-बहिनों की इज्जत लुटी है, वह रागियों ने ही लूटी है, द्वेषियों ने नहीं। आप प्रतिदिन प्रातःकाल समाचारपत्र पढ़ते हैं। उनमें यह लिखा तो मिलता है कि एक गोरी-भूरी सुन्दर युवती क्रीम-पाउडर लपेटे, तंग वस्त्र पहिने, हँसती-खेलती तितली-सी बनी बाजार में जा रही थी तो कुछ कॉलेजी लड़कों ने उससे छेड़खानी की; पर आपने यह कभी नहीं पढ़ा होगा कि एक काली-कलूटी, सफेद बालों वाली, घिनौनी-सी गंदी लड़की रोती-रोती सड़क पर जा रही थी और उससे किसी ने छेड़खानी की।

भाई! छेड़खानी का पात्र भी वही होता है, जिसे देखकर हमें राग उत्पन्न हो।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पाँचों पापों की मूल जड़ एकमात्र रागभाव ही है। यही कारण है कि कविवर पण्डित दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं :-

"यह राग आग दहे सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये॥"

भाई! यह राग तो ऐसी आग है, जो सदा जलाती ही है। जिसप्रकार आग सर्दियों में जलाती है, गर्मियों में जलाती है; दिन को जलाती है, रात को जलाती है; सदा जलाती ही है। उसीप्रकार यह राग भी सदा दुःख ही देता है।

जिसप्रकार चाहे नीम की हो, चाहे चन्दन की; पर आग तो जलाने का ही काम करती है। ऐसा नहीं है कि नीम की आग जलाये और चंदन की आग ठंडक पहुँचाये। भाई! चन्दन भले ही शीतल हो, शीतलता पहुँचाता हो; पर चन्दन की आग तो जलाने का ही काम करेगी। भाई! आग तो आग है; इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि वह नीम की है या चन्दन की।

उसीप्रकार राग चाहे अपनों के प्रति हो या परायों के प्रति हो; चाहे अच्छे लोगों के प्रति हो या बुरे लोगों के प्रति हो; पर है तो वह

हिंसा ही, बुरा ही। ऐसा नहीं है कि अपनों के प्रति होनेवाला राग अच्छा हो और परायों के प्रति होनेवाला राग बुरा हो अथवा अच्छे लोगों के प्रति होनेवाला राग अच्छा हो और बुरे लोगों के प्रति होने वाला राग बुरा हो। अच्छे लोगों के प्रति भी किया गया राग तो हिंसा होने से बुरा ही है।

भाई! इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। भगवान महावीर की यह अद्भुत बात जैनदर्शन का अनोखा अनुसंधान है। जबतक इस बात को गहराई से नहीं समझा जायेगा, तबतक महावीर की अहिंसा समझ में आना संभव नहीं है।

भाई! भगवान महावीर ने रागादिभावों की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताकर एक अद्भुत रहस्य का उद्घाटन किया है। अपनी पुरानी मान्यताओं को एक ओर रखकर पवित्र हृदय से यदि समझने का प्रयास किया जाय तो इस अद्भुत रहस्य को भी समझा जा सकता है, पाया जा सकता है, अपनाया जा सकता है और जीवन में जिया भी जा सकता है।

यदि हम यह कर सके तो सहज सुख-शान्ति को भी सहज ही उपलब्ध कर लेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं।

राग के अतिरिक्त द्वेषादि के कारण भी जो हिंसा होती देखी जाती है, उसके भी मूल में जाकर देखें तो उसका कारण भी राग ही दृष्टिगोचर होगा।

हम इस बात पर गहराई से विचार करें कि जिस द्वेष के कारण यह द्रव्यहिंसा हुई है, वह द्वेष किस कारण से उत्पन्न हुआ था; तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि जिस व्यक्ति से हमें राग था, उसके प्रति असद् व्यवहार के कारण अथवा जिस वस्तु से हमें अनुराग था, उस वस्तु की प्राप्ति में बाधक होने के कारण ही वह द्वेष उत्पन्न हुआ था।

यदि कोई व्यक्ति हमारे परोपकारी गुरु की निन्दा करता है या हम पर सर्वस्व लुटानेवाले माँ-बाप से असद्व्यवहार करता है तो उस व्यक्ति से हमें सहज ही द्वेषभाव हो जाता है। यदि उस व्यक्ति के प्रति हम से कोई हिंसात्मक व्यवहार होता है तो उसे हम द्वेषमूलक हिंसा कहेंगे; पर गहराई में जाकर विचार करें तो स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि हमारे इस हिंसात्मक व्यवहार के पीछे वह राग ही कार्य कर रहा है, जो हमारे हृदय में हमारे गुरु या माता-पिता के प्रति विद्यमान है।

इस तरह गहराई में जाकर विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि द्वेषमूलक हिंसा भी मूलतः रागमूलक ही है।

यद्यपि 'राग' शब्द बहुत व्यापक है, उसमें आत्मा में उत्पन्न होने वाले सभी विकारीभाव समाहित हो जाते हैं। मिथ्यात्व सहित सम्पूर्ण मोह को, जिसमें द्वेष भी सम्मिलित है, राग कहा जाता है; तथापि यहाँ 'राग' शब्द के साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग करके द्वेषादि विकारों का पृथक् रूप से भी संकेत कर दिया है।

यदि कोई कहे कि 'रागादि' के स्थान पर 'द्वेषादि' शब्द का प्रयोग किया जाता तो कोई विवाद नहीं रहता; क्योंकि द्वेष को तो हिंसा का कारण सभी मानते हैं। ऐसी स्थिति में राग 'आदि' शब्द में समाहित हो ही जाता। इसतरह हम अपनी बात भी रख देते और दुनियाँ को वह खटकती भी नहीं।

अरे, भाई! यदि 'राग' शब्द का उल्लेख स्पष्ट रूप से न होता तो राग में धर्म माननेवाले लोग उसे हिंसा स्वीकार ही न करते; अतः बात अस्पष्ट ही रह जाती। यही कारण है कि यहाँ 'राग' शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और द्वेषादि को 'आदि' शब्द में समाहित किया गया है। वक्र और जड़ शिष्य संकेतों की भाषा से नहीं समझते, उनके लिए तो जितनी अधिक स्पष्टता की जाय, उतनी ही कम है।

इतनी सावधानी रखने पर भी लोग यह कहते देखे जाते हैं कि राग से तात्पर्य मात्र अशुभराग से है, तीव्रराग से है; शुभराग और मन्दराग से नहीं।

पर भाई! इतना तो सोचो कि जब भगवान महावीर ने हिंसा की परिभाषा में 'राग' शब्द का प्रयोग किया होगा, क्या तब उन्हें उसके व्यापक अर्थ का ध्यान न रहा होगा? क्या वे यह नहीं जानते होंगे कि राग दो प्रकार का होता है :– शुभ और अशुभ अथवा मंद और तीव्र?

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि विषय-कषाय का राग हिंसा है – यह तो ठीक है, पर धर्मानुराग को हिंसा कैसे कहा जा सकता है?

भाई! राग तो राग है, वह किसके प्रति है – इससे उसके रागपने में क्या अन्तर पड़ता है? जिस धर्मानुराग को तुम हिंसा की परिधि से बाहर रखना चाहते हो, उसी धर्मानुराग ने विश्व में कितनी खून की नदियाँ बहाई हैं – क्या इसकी जानकारी नहीं है आपको?

इतिहास के पन्ने पलटकर तो देखो, धर्मानुराग के नाम पर ही लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया गया। हमारी आँखों के सामने होनेवाले हिन्दू-मुसलमानों के दंगे, सिया-सुन्नियों के दंगे धर्मानुराग के ही परिणाम हैं। दूर क्यों जाते हो, दिगम्बर-श्वेताम्बरों के झगड़ों के पीछे भी तो यही धर्मानुराग कार्य करता है।

भाई ! अविवेक का भी कोई ठिकाना है ? हम अहिंसा धर्म की भी रक्षा जान की बाजी लगाकर करना चाहते हैं। जान की बाजी लगाने से अहिंसा धर्म की रक्षा नहीं होती है, हिंसा उत्पन्न होती है। आज हम इस स्थूल सत्य को भी भूले जा रहे हैं।

भाई ! धर्मानुराग धर्म का प्रकार नहीं, राग का प्रकार है; अतः धर्म नहीं, राग ही है; धर्म तो एक वीतरागभाव ही है।

भाई ! गजब हो गया है; वीतरागी जैनधर्म में भी आज राग को धर्म माना जाने लगा है। जब पानी में ही आग लग गई हो, तब क्या किया जा सकता है ?

भगवान महावीर तो स्वयं वीतरागी थे, वे राग को धर्म कैसे कह सकते हैं ? भाई ! जब कोई वीतरागी बनता है तो सम्पूर्ण राग का अभाव करके ही बनता है, सबके प्रति राग तोड़कर ही बनता है; किसी के भी प्रति राग रखकर, कैसा भी राग रखकर वीतरागी नहीं बना जा सकता।

भाई ! सीधी सी बात है कि यदि वीतरागता धर्म है तो राग अधर्म होगा ही।

इतनी सीधी-सच्ची बात भी हमारी समझ में नहीं आती। भाई ! पूर्वाग्रह छोड़े बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती।

भाई ! मैं एक बात कहूँ। बेटे तीन प्रकार के होते हैं। इसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं :–

आप चार व्यक्ति किसी काम से मेरे घर पधारे। मैंने आपको आदरपूर्वक बिठाते हुए अपने बेटे को आवाज दी :–

"भाई, परमात्मप्रकाश ! एक गिलास पानी लाना।" आदत है न एक गिलास बोलने की; पर चतुर बेटा समझता है कि भले ही एक गिलास कहा है; पर अतिथि तो चार हैं न, और एक पिताजी भी तो हैं। इसप्रकार वह पाँच गिलास भरकर लाता है, साथ में एक भरा हुआ जग (लोटा) भी लाता है; क्योंकि वह जानता है कि गर्मियों के दिन हैं,

कोई दो गिलास पानी भी पी सकता है; कोई दूध या चाय तो है नहीं, जो माँगने में संकोच करेगा।

दूसरा बच्चा वह है, जो मात्र एक गिलास ही पानी लाता है। टोकने पर जवाब देता है कि आपने ही तो कहा था कि एक गिलास पानी लाना। बड़ा आज्ञाकारी है न? जब एक गिलास कहा था तो अधिक कैसे ला सकता था?

तीसरा वह है, जो आधा गिलास पानी ही लाता है। पूँछने पर उत्तर देता है कि 'मैंने सोचा – छलक न जाय, झलक न जाय।'

भाई! हम सभी भगवान महावीर की सन्तान हैं। अब जरा विचार कीजिए कि हम भगवान महावीर के कौन से बेटे हैं :– पहले, दूसरे या तीसरे?

भगवान ने कहा था :– "रागादिभाव हिंसा हैं।"

उनके इस कथन का आशय पहला बेटा यह समझता है कि सभी प्रकार का शुभाशुभ, मंद-तीव्र राग तो हिंसा है ही, साथ में द्वेषादि भाव भी हिंसा ही हैं।

दूसरे बेटे वे हैं, जो कहते हैं कि हम तो अकेले राग को ही हिंसा मानेंगे, क्योंकि स्पष्ट रूप से तो राग का ही उल्लेख है।

उनसे यदि यह कहा जाय कि 'राग' के साथ 'आदि' शब्द का भी तो प्रयोग है तो कहते हैं कि है तो, पर यह कैसे माना जाय कि आदि से द्वेषादि ही लेना, सम्यग्दर्शनादि नहीं।

तीसरे वे हैं, जो कहते हैं कि भगवान ने यदि राग को हिंसा कहा है तो हमने अशुभराग-तीव्रराग को हिंसा मान तो लिया। यह जरूरी थोड़े ही है कि हम सम्पूर्ण राग को हिंसा मानें। लिखा भी तो अकेला रागादि ही है, यह कहाँ लिखा कि सभी रागादि हिंसा हैं?

अब आप ही निश्चित कीजिए कि आप भगवान महावीर के कौन से पुत्र हैं :– पहले, दूसरे या तीसरे? मुझे इस बारे में कुछ नहीं कहना है। यह निर्णय मैं आप सब पर ही छोड़ता हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर ने हिंसा और अहिंसा के स्वरूप के स्पष्टीकरण में राग शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है, सभी प्रकार का राग तो उसमें समाहित है ही, राग के ही प्रकारान्तर द्वेषादि परिणाम भी उसमें समाहित हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि क्या रागादिभाव की उत्पत्ति मात्र से ही हिंसा हो जाती है, चाहे जीव मरे या न मरे ? क्या जीवों के मरण से हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है ?

हाँ, भाई ! बात तो ऐसी ही है; पर जगत तो यही कहता है कि जबतक प्राणियों का घात न हो, जीवों का मरण न हो; तबतक हिंसा कैसे हो सकती है, तबतक हिंसा की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? यह भोला जगत तो हिंसा का सम्बन्ध मृत्यु से ही जोड़ता है; परन्तु गंभीरता से विचार करें तो बात दूसरी ही नजर आती है ।

यदि जीवों के मरण को हिंसा माना जायगा तो फिर जन्म को अहिंसा मानना होगा; क्योंकि हिंसा और अहिंसा के समान जन्म और मृत्यु भी परस्पर विरोधी भाव हैं । जन्म को अहिंसा और मरण को हिंसा मानने पर यह बात स्वत: समाप्त हो जाती है कि आज जगत में हिंसा अधिक फैलती जा रही है; क्योंकि जन्म और मृत्यु का अनुपात तो सदा समान ही रहता है; जो जन्मता है, वही तो मरता है तथा जो मरता है, वह तत्काल कहीं न कहीं जन्म ले लेता है ।

इससे बचने के लिए यदि कोई कहे कि मृत्यु का विरोधी जन्म नहीं, जीवन है; तो बात और भी अधिक जटिल हो जावेगी, उलझ जावेगी; क्योंकि व्यक्ति जिन्दा तो वर्षों तक रहता है और मरण तो क्षणिक अवस्था का ही नाम है ।

इसप्रकार मृत्यु को हिंसा और जीवन को अहिंसा मानने पर अहिंसा का पलड़ा और भी अधिक भारी हो जायगा, जबकि यह बात सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि आज हिंसा बहुत बढ़ती जा रही है ।

भाई ! न जन्म अहिंसा है, न जीवन अहिंसा है; और न मृत्यु ही हिंसा है । मृत्यु तो प्राणधारियों का सहज स्वभाव है, (मरणं प्रकृति शरीरिणाम्) वह हिंसा कैसे हो सकती है ? लोक में हिंसकभाव के बिना हुई मृत्यु को हिंसा कहा भी नहीं जाता है ।

बाढ़ आने पर लाखों लोगों के मर जाने पर भी यह तो कहा जाता है कि भयंकर विनाश हुआ, बर्बादी हुई, जन-धन की अपार हानि हुई, परन्तु यह कभी नहीं कहा जाता कि हिंसा का ताण्डव नृत्य हुआ । पर उपद्रवों को शान्त करने के लिए पुलिस द्वारा गोली चलाये जाने पर यदि एक भी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो कहा जाता है कि हिंसा का ताण्डव नृत्य हुआ । अखबारों के मुख्य पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में छपता है,

जनता गली-गली में नारे लगाती है कि हत्यारी सरकार स्तीफा दे। बाढ़ में हुए विनाश पर सरकार को कोई हत्यारा नहीं कहता।

भारतीय जनता इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है, उसके रोम-रोम में यह सत्य समाया हुआ है, उसके अन्तर में अहिंसा के प्रति एक गहरी आस्था आज भी विद्यमान है।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि भोपाल (म.प्र.) की गैस दुर्घटना में हजारों लोगों के मर जाने के बाद भी वहाँ शासक दल ने दो-तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त किया; किन्तु राजस्थान में पुलिस की गोली से एक व्यक्ति के मर जाने पर मुख्यमंत्री को अपना पद छोड़ना पड़ा।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अमानुषिक हत्या पर जनता की यही प्रतिक्रिया रही। भारतीय जनता ने उनकी अमानुषिक हत्या अर्थात् हिंसा के विरुद्ध चुनाव में अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया। परिणाम-स्वरूप इन्दिरा कांग्रेस को अभूतपूर्व विजय प्राप्त हुई। इस सत्य से सभी भली-भाँति परिचित हैं कि यदि श्रीमती इन्दिरा गाँधी स्वयं चुनाव लड़तीं तो इतना बहुमत उन्हें भी मिलनेवाला नहीं था।

वस्तुतः यह इन्दिरा कांग्रेस या श्री राजीव गाँधी की जीत नहीं, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा की जीत है। भारतीय जनता ने स्पष्ट रूप से हिंसा के विरुद्ध अहिंसा के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया है।

इससे प्रतीत होता है कि बहुत गहराई में जाकर भारतीय जनता आज भी भगवती अहिंसा की आराधक है, उसकी रग-रग में भगवती अहिंसा उसीप्रकार समाई हुई है, जिसप्रकार तिल में तेल और दूध में घी।

प्राकृतिक विनाश भारतीय जनता के चित्त को करुणा-विगलित तो करता है, उसमें एक संवेदना पैदा तो करता है; पर वह उसके चित्त को उद्वेलित नहीं करता, आन्दोलित नहीं करता; किन्तु बुद्धिपूर्वक की गई हिंसा से वह आन्दोलित हो जाता है, उद्वेलित हो जाता है, वह भड़क उठता है।

हत्याओं के प्रति यह आक्रोश भारतीय जनता की अहिंसा में गहरी आस्था को ही व्यक्त करता है।

भारतीय जनता की अहिंसा के प्रति गहरी समझ एवं दृढ़ आस्था को समझने के लिए हमें उसके अन्तर में उतरना होगा, उसके व्यवहार

का बारीकी से अध्ययन करना होगा; ऊपर-ऊपर से देखने से काम नहीं चलेगा।

महावीर भारतीय जनता के अन्तर में समाहित हो गये हैं। भारतीय जनता पर उनकी पकड़ बहुत गहरी है।

भाई! मृत्यु विनाश हो सकती है; हत्या नहीं, हिंसा नहीं। सरकारी कानून भी इस बात को स्वीकार करता है। किसी व्यक्ति ने किसी को जान से मारने के इरादे से गोली चला दी, पर भाग्य से यदि वह न मरे, बच भी जावे; तथापि गोली मारनेवाला तो हत्यारा हो ही जाता है; पर बचाने के अभिप्राय से ऑपरेशन करनेवाले डाक्टर से चाहे मरीज ऑपरेशन की टेबल पर ही क्यों न मर जावे; पर डॉक्टर हत्यारा नहीं कहा जाता, नहीं माना जाता।

यदि मृत्यु को ही हिंसा माना जायगा तो फिर डॉक्टर को हिंसक तथा मारने के इरादे से गोली चलानेवाले को हिंस्य व्यक्ति के न मरने पर अहिंसक मानना होगा, जो न तो उचित ही है और न उसे अहिंसक माना ही जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि हिंसा का संबंध मृत्यु के होने या न होने से नहीं है, हिंसकभावों के सद्भाव से है।

मान लो, मैं किसी स्थान पर इसीप्रकार व्याख्यान दे रहा हूँ। सामने से किसी ने पत्थर मारा, वह पत्थर मेरे कान के पास से सन-सनाता हुआ निकल गया।

मैंने उससे कहा :– "भाई! यह क्या करते हो, अभी मेरा माथा फूट जाता तो.....?"

वह अकड़कर कहने लगा :– "फूटा तो नहीं; फूट जाता, तब कहते.....।"

मैंने समझाते हुए कहा :– "भाई! तब क्या कहते? तब तो अस्पताल भागते।"

भाई! अज्ञानी समझते हैं कि हिंसा तब होती, जब माथा फूट जाता; पर मैं आप से ही पूछता हूँ कि क्या हिंसा मेरे माथे में भरी है, जो उसके फूटने पर निकलती? हिंसा मेरे माथे में उत्पन्न होना थी या उसके हृदय में उत्पन्न हो गई? हिंसा तो उसके हृदय में उसी समय उत्पन्न हो गई थी, जब उसने मारने के लिए पत्थर उठाया ही था।

हिंसा की उत्पत्ति हिंसक के हृदय में होती है, हिंसक की आत्मा में होती है, हिंस्य में नहीं। – इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। हत्या के माध्यम से उत्पन्न मृत्यु को द्रव्यहिंसा कहा जाता है, पर सहज मृत्यु को तो द्रव्यहिंसा भी नहीं कहा जाता। भावहिंसापूर्वक हुआ परघात ही द्रव्यहिंसा माना जाता है, भावहिंसा के बिना किसी भी प्रकार की मृत्यु द्रव्यहिंसा नाम नहीं पाती।

जब कोई व्यक्ति हिंसा का निषेध करता है, हिंसा के विरुद्ध बात करता है तो उसके अभिप्राय में भावहिंसा ही अपेक्षित होती है; क्योंकि अहिंसक जगत में मृत्यु का नहीं, हत्याओं का अभाव ही अपेक्षित रहता है।

भाई! यहाँ तो इससे भी बहुत आगे की बात है। यहाँ मात्र मारने के भाव को ही हिंसा नहीं कहा जा रहा है, अपितु सभी प्रकार के रागभाव को हिंसा बताया जा रहा है. जिसमें बचाने का भाव भी सम्मिलित है।

इसके सन्दर्भ में विशेष जानने के लिए मेरा "अहिंसा"[1] नामक निबंध पढ़ना चाहिए।

भाई! दूसरों को मारने या बचाने का भाव उसके सहज जीवन में हस्तक्षेप है। सर्वप्रभुतासम्पन्न इस जगत में पर के जीवन-मरण में हस्तक्षेप करना अहिंसा कैसे माना जा सकता है? अनाक्रमण के समान अहस्तक्षेप की भावना भी अहिंसा में पूरी तरह समाहित है। यदि दूसरों पर आक्रमण हिंसा है तो उसके कार्यों में हस्तक्षेप भी हिंसा ही है, उसकी सर्वप्रभुतासम्पन्नता का अनादर है, अपमान है।

भगवान महावीर के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वयं सर्वप्रभुता-सम्पन्न द्रव्य है, अपने भले-बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं उसका है; उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं है। इस परम सत्य की स्वीकृति ही भगवती अहिंसा की सच्ची आराधना है। भगवती अहिंसा भगवान महावीर की साधना की चरम उपलब्धि है, उनकी पावन दिव्यध्वनि का नवनीत है, जन्म-मरण का अभाव करने वाला रसायन है, परम-अमृत है।

---

[1] तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १८५

भाई ! यदि सुखी होना है तो इस परमामृतरस का पान करो, इस परमरसायन का सेवन करो ।

जब हम इस परमामृत पान की पावन प्रेरणा देते हैं तो कुछ लोग कहने लगते हैं :–

"आपकी बातें तो बहुत अच्छी हैं, पर अकेले हमारे अहिंसक हो जाने से क्या होनेवाला है, क्योंकि अकेला चना तो भाड़ फोड़ नहीं सकता । अतः पहले सारी दुनियाँ को यह अहिंसा समझाओ, स्वीकार कराओ; बाद में हम भी स्वीकार कर लेंगे ।"

हमारा उनसे कहना यह है कि भाई ! अहिंसा तो अमृत है; जो इस अमृत के प्याले को पियेगा, वह अमर होगा, सुखी होगा, शान्त होगा ।

भाई ! इस पावन अहिंसा को यदि व्यक्ति अपनायेगा तो व्यक्ति सुखी होगा, परिवार अपनायेगा तो परिवार सुखी होगा, समाज अपनायेगा तो समाज सुखी होगा और देश अपनायेगा तो देश सुखी होगा ।

अतः दूसरों पर टालने की अपेक्षा 'भले काम को अपने घर से ही आरम्भ कर देना चाहिए' की लोकोक्ति के अनुसार हमें अहिंसा को सच्चे दिल से समझने एवं जीवन में अपनाने का कार्य स्वयं से ही आरम्भ कर देना चाहिए ।

अधिक क्या कहें ? भाई, सभी प्राणी भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित इस अहिंसा सिद्धान्त को गहराई से समझें; मात्र समझे ही नहीं, जीवन में अपनायें और सहज सुख-शान्ति को प्राप्त करें – इस पावन भावना से विराम लेता हूँ ।

अभिमत

व्रतियों, विद्वानों एवं लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

वयोवृद्धव्रती विद्वान ब्र. पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ; कटनी

यह पुस्तक श्री तारणस्वामीजी के ज्ञान-समुच्चयसार की चार गाथाओं पर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रवचन रूप में निबद्ध हैं । ये गाथाएँ जिनागम के सारभूत हैं । डॉ. भारिल्ल ने सुन्दर चित्रण कर उसके भावों को निखारा है । अतः यह गागर में सागर या प्रकारान्तर से सागर की गागर है ।

पण्डित नन्हेलालजी जैन सिद्धान्तशास्त्री ; ललितपुर (उ.प्र.)

डॉ. भारिल्ल ने उक्त पुस्तक रूपी गागर में अध्यात्म अमृत रूपी रस के सागर को भरकर एक अपूर्व नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है । प्रतिपादित विषय को उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली से अच्छी तरह बैठाया है । भारिल्लजी जैन समाज के ही नहीं बल्कि देश-विदेश की मंजी हुई प्रगतिशील विभूति हैं । मैं उनके अनुभवपूर्ण ज्ञान गरिमा और पटुता की भूरिभूरि प्रशंसा करता हूँ ।

पण्डित राजकुमारजी शास्त्री ; निवाई (राज.)

पुस्तक की साज-सज्जा बहुत सुन्दर है । विषय भी अच्छा और लेखन की प्रक्रिया भी भारिल्लजी की प्रभावक व हृदयग्राही है । पुस्तक पढने योग्य है ।

पण्डित प्रकाशचन्दजी 'हितैषी' शास्त्री, सम्पादक-सन्मति सन्देश ; दिल्ली

'गागर में सागर' कृति में आध्यात्मिक संत श्री तारणस्वामी के भावों का बहुत ही सरल, सरस और सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

डा. भारिल्ल आध्यात्मिक जैसे रूक्ष और दुरूह विषय को इतना सरल, सुबोध एवं रोचक बना देते हैं कि अध्यात्म में

प्रवेश पाने के लिए सर्व साधारण को बिलकुल सुगम बन जाता है ।

डा. भारिल्लजी धर्म प्रचार के क्षेत्र में आशातीत वीर योद्धा की तरह महान कार्य कर रहे हैं । आने वाले युग में धर्म प्रचार की बहुमुखी उन्नति के लिए भारिल्लजी का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा ।

पण्डित भरतचक्रवर्ती शास्त्री, निदेशक-जैन साहित्य शोध संस्थान ;

तारणस्वामी के ज्ञान-समुच्चयसार की कतिपय गाथाओं पर अध्यात्मजगत के वरिष्ठ विद्वान जैनरत्न डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के मार्मिक प्रवचनों का सार ही 'गागर में सागर' ग्रन्थ है । इसके प्रत्येक वाक्य में इतनी गहरी बातें भरी पडी हैं, जिसकी व्याख्या करें तो एक अलग पुस्तक बन जाएगी । इस कृति में अहिंसा के सच्चे अर्थ को सर्वाङ्गीण रूप से अवगत करने का सफल उपक्रम किया गया है ।

यह ग्रन्थ अज्ञानता एवं पर्यायमूढता के विरुद्ध उठायी गयी भारिल्लजी की पैनी सम्यग्ज्ञान तलवार है ।

विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागरजी प्रचण्डिया, डी. लिट. ; अलीगढ (उ.प्र.)

'गागर में सागर' कृति का उपजीव्य श्री जिन तारणस्वामी कृत ज्ञान समुच्चयसार है । प्रवाचक प्रमुख महामनीषी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा कतिपय गाथाओं को निहित सारस्वत सम्पदा का सावधानीपूर्वक विवेचन किया गया है, फलस्वरूप कृति में ज्ञानगोमती निर्बाध प्रवाहित हो उठी है ।

कृति के अन्त में 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' विषय पर विद्वान वक्ता द्वारा दिया गया प्रवचन भी संश्लिष्ट किया गया है । यह संकलन संपादक पण्डित रतनचन्द भारिल्ल की सूझबूझ का परिचायक है । सारसारांश यह है कि 'गागर में सागर' प्रत्येक स्वाध्यायी के लिए उपयोगी ज्ञाननिधि ही है ।

डॉ. कमलेशकुमारजी जैन, दर्शनाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय ; वाराणसी

अनुपम प्रतिभा के धनी विद्वद्वरेण्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपनी ओजपूर्ण वाणी से न केवल विद्वज्जगत को, अपितु सर्व साधारण को भी प्रभावित किया । श्री जिन तारणतरण स्वामी के ज्ञानसमुच्चयसार की केवल चार गाथाओं को लेकर उन्होंने जिस विद्वतापूर्ण शैली में 'गागर में सागर' को भरने का सफल प्रयास किया है ; वह स्तुत्य है ।

डॉ. राजेन्द्रकुमार बन्सल, ओरियन्ट पेपर मिल्स, अमलाई (म.प्र.)

डॉ. भारिल्ल बेजोड चिन्तक एवं प्रवचनकार हैं । वे साहित्य की सभी विधाओं के सिद्धहस्त लेखक हैं । प्रतिपाद्य विषय कितना ही दुरूह एवं गम्भीर क्यों न हो, उनकी तार्किक स्वनिर्मित उदाहरणों से युक्त प्रवचनकला से वह सरल, सरस एवं सुगम बनकर हर स्तर के श्रोता के लिये बोधगम्य हो जाता है ।

समग्र रूप से 'गागर में सागर' पुस्तक 'यथानाम-तथागुण' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाली है, प्रतिपाद्य विषय सामग्री शुद्ध आध्यात्मिक है तथा शुद्धोपयोग की ओर प्रेरित करती है । पुस्तक की छपाई जिल्द आदि चित्ताकर्षक है। प्रस्तुत पुस्तक सरल, पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है । विश्वास है कि अध्यात्म जगत के अलावा अन्य व्यक्ति भी पुस्तक का पठन कर अपनी चिन्तन प्रक्रिया एवं दिशा में नये आयाम का सूत्रपात करेंगे । लेखक एवं प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं ।

डॉ. विजय कुलश्रेष्ठ, प्राध्यापक - कुमाऊँ विश्वविद्यालय ; नैनीताल

कम से कम शब्दों में अधिकाधिक कह देने की प्रवृत्ति को चरितार्थ करते हुए डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रवचनों का यह सम्पादित संकलन जैन-दर्शन की गूढता को जिस भांति सहजता एवं सरलता के साथ प्रस्तुत करता है, वही श्रेयस है, उपादेय है और गहन चिन्तन की सुबोध अभिव्यक्ति भी है ।

यह संकलन जैनेतर वर्गों के लिए श्लाघनीय प्रयास का उद्धरण है ।

प्रो. उदयचन्दजी, सर्वदर्शनाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय ; वाराणसी (उ.प्र.)

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. भारिल्ल की प्रत्येक कृति एक अनोखी छवि को लिए हुए होती है । 'गागर में सागर' भी इसीप्रकार की एक कृति है ।

श्री तारणतरण स्वामी द्वारा रचित 'ज्ञानसमुच्चयसार' की चार गाथाओं पर डॉ. भारिल्ल द्वारा प्रदत्त प्रवचनों का इसमें संकलन किया गया है । वास्तव में इन प्रवचनों में अध्यात्मरस के सागर को गागर में भर दिया गया है । जो व्यक्ति अध्यात्म रस के सागर में गोता नहीं लगा सकता, वह गागर में सागर को पढकर अध्यात्मरस का आनन्द सरलता से ले सकता है ।

इस पुस्तक के अन्त में डॉ. भारिल्ल के 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' नामक व्याख्यान को सम्मिलित कर देने से पुस्तक का महत्व और भी बढ गया है ।

यह पुस्तक अत्यन्त रुचिकर, उपादेय, पठनीय तथा संग्रहणीय है ।

यशपालजी जैन, सम्पादक-जीवन साहित्य,
सस्ता साहित्य मण्डल ; नई दिल्ली

'ज्ञान समुच्चयसार' की चार गाथाओं तथा 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर डॉ. भारिल्ल के प्रवचनों का यह संग्रह वास्तव में अपने नाम को सार्थक करता है । गाथाओं का चुनाव बडे सुन्दर ढंग से किया है और उनका विवेचन भी इसप्रकार किया है कि सामान्य शिक्षित पाठक भी उन्हें समझ सके । गूढ तत्त्वज्ञान को सरल एवं रोचक शैली में प्रस्तुत कर बडी ही सुबोध बना दी है ।

'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' के सम्बन्ध मे भारिल्लजी के विचार प्रेरणादायक हैं ।

तीर्थंकर (मासिक) इन्दौर ; दिसम्बर-८५ ई. ।

प्रस्तुत कृति में डॉ. भारिल्ल के श्री जिन तारण-तरण स्वामी की बहुमूल्य कृति 'ज्ञान समुच्चयसार' की गाथा क्र. ४४, ५९, ७६ और ८९७ पर चार प्रवचन तथा 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' शीर्षक से लोकप्रिय दो व्याख्यान संकलित हैं । विद्वान प्रवचनकार ने जिन गाथाओं को प्रवचनार्थ चुना है, उनमें आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । कुल मिलाकर पुस्तक पठनीय है । प्रकाशन नयनाभिराम है, मूल्य भी कम है ।

- डॉ. नेमीचन्द जैन, सम्पादक

सन्मति-वाणी (मासिक) इन्दौर ; जनवरी १९८६ ई. ।

श्री जिन तारण-तरण स्वामी विरचित ज्ञान समुच्चयसार की गाथाओं एवं 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर आधारित सुप्रसिद्ध विद्वान, वक्ता एवं लेखक डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रवचनों का यह अपूर्व संग्रह है । आवरण एवं जिल्द आकर्षक है ।

सन्मति-सन्देश (मासिक) दिल्ली, फरवरी १९८६ ई. ।

समीक्ष्य प्रकाशन में अध्यात्म रसिक संत तारणस्वामी रचित ज्ञान-समुच्चयसार की कुछ गाथाओं पर भारिल्लजी के प्रवचन संकलित किये गये हैं । इसी प्रकाशन के अन्त में 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर संकलित प्रवचन में अहिंसा के रहस्य को खोला गया है । अल्पावधि में ही इसकी आठ हजार प्रतियां प्रकाशित होकर जनता के हाथ में पहुँच चुकी हैं, जो इसकी लोकप्रियता का सबसे बडा प्रमाण है ।

समन्वय-वाणी (मासिक) जयपुर , जनवरी १९८६ ई. ।

तारण-तरण स्वामी कृत ज्ञानसमुच्चयसार की प्रमुख गाथाओं तथा 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर डॉ. भारिल्लजी के मार्मिक व्याख्यानों को सुसम्पादित कर सुन्दर कलेवर में प्रस्तुत किया गया है ।

कृति को आद्योपन्त पढने से लगता है भारिल्लजी लेखन के क्षेत्र में तो बेजोड हैं ही, प्रवचनकार के रूप में भी उनका

कोई सानी नहीं । अन्य प्रवचनों को भी इसी भांति प्रकाशित कर इस श्रंखला को आगे बढावें ।

-अखिल बंसल, एम. ए., जे. डी., सम्पादक

जिनवाणी (मासिक) जयपुर, फरवरी, १९८६ ई. ।

इस पुस्तक में डॉ. भारिल्ल के श्री तारण स्वामी विरचित 'ज्ञान-समुच्चयसार ग्रन्थ की ४४, ५९, ७६ व ८९७ गाथाओं पर दिये गये व्याख्यात्मक प्रवचनों के साथ-साथ 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' प्रवचन संकलित हैं । आध्यात्मिक स्फुरणा जगाने में इनसे बडी मदद मिलती है । इन प्रवचनों का मूल स्वर है आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा का ध्यान ही सब ज्ञान का सार है ।

-डॉ. नरेन्द्र भानावत, सम्पादक

अहिंसावाणी (मासिक) अलीगंज, जनवरी-फरवरी, १९८६ ई. ।

कृति की भाषा सरल और शैली सुबोध, रोचक है, जिससे जन-साधारण आध्यात्मिक तत्वों को समझने में ऊबता नहीं, अपितु सहज समझता चलता है । यही इस कृति की विशेषता है । तत्व जिज्ञासुओं के लिए यह सुपाच्य मानसिक भोजन है । प्रकाशन श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध है । गेटअप भी प्रतीक लिए हुए है ।

-डॉ. आदित्य प्रचंडिया 'दीति'

तारण-बन्धु (मासिक) भोपाल, नवम्बर-दिसम्बर, १९८५ ई. ।

इस पुस्तक में 'ज्ञान-समुच्चयसार' ग्रन्थ की चार गाथाओं पर डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रवचन दिए गए हैं । ये प्रवचन जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों और अध्यात्मवाद का ज्ञान कराते हैं, जो अध्यात्म रस पिपासुओं के लिए बहुत उपयोगी है । पुस्तक का कागज व छपाई उत्तम है ।

-ज्ञानचन्द जैन. बी. ए.. एल.एल. बी.. सम्पादक

जैनपथ-प्रदर्शक (पाक्षिक) मई, द्वितीय पक्ष ; १९८५ ई. ।

प्रवचनकला एवं लेखनकला दोनों स्वतन्त्र विधाएँ हैं । डॉ. भारिल्ल के व्यक्तित्व में दोनों कलाएं समृद्ध रूप से विद्यमान हैं, परन्तु उनके प्रवचन को लेखन में परिणत करके प्रस्तुत करने का यह प्रथम सफल प्रयोग है, जो सहज लेखन से भी अधिक सफल होगा । प्रवचन में दिए गए रोचक उदाहरणों एवं तर्कों को लेखन में समाविष्ट करने पर भी लेखन का सहज प्रवाह एवं गम्भीरता स्खलित नहीं हो पाई है । सम्पूर्ण प्रवचनों में आत्मानुभव की प्रेरणा पर विशेष बल दिया गया है । अतः आत्मरूचि को पुष्ट करने के लिए यह पुस्तक आद्योपान्त पठनीय व रमणीय है ।

-अभयकुमार जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम. कॉम.

जैनसन्देश (साप्ताहिक) मथुरा, ३० जनवरी, १९८६ ई. ।

डॉ. भारिल्लजी के ज्ञान समुच्चयसार की चुनी हुई चार गाथाओं एवं 'भगवान महावीर और उनकी अहिंसा' पर एक प्रवचन प्रस्तुत पुस्तक में है । डॉ. भारिल्ल के सरल, विषय को स्पष्ट करने वाले रोचकता लिए हुए, सटीक उदाहरण युक्त होते हैं । उनके प्रवचनों से कोई श्रोता ऊबता नहीं है । उनके अध्यात्म विषयक जैसे गूढ प्रवचन भी सरस हैं । अहिंसा वाला प्रवचन भी अनेक दृष्टिकोणों से पठनीय है । आधुनिक उदाहरणों से राग की उत्पत्ति को हिंसा एवं वीतराग भाव को अहिंसा सिद्ध किया गया है । साज-सज्जा एवं मुद्रण नयनाभिराम है ।

-डॉ. कन्छेदीलाल जैन

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची –

१. श्री महेन्द्र कुमार जी चेतनकुमार जी बोथरा, चेन्नई	१,००१
२. श्रीमती अमिताबेन केतनभाई गोसालिया, चेन्नई	१,०००
३. श्री तरुण-शशिकुमार जी जैन, चेन्नई	१,०००
४. श्री कान्तिलाल जी ए. कामदार, चेन्नई	१,०००
५. श्रीमती प्रवीण बेन ए. कामदार, चेन्नई	१,०००
६. श्रीमती आशा बेन के. कामदार, चेन्नई	१,०००
७. श्री भरतभाई के. कामदार, चेन्नई	१,०००
८. श्री राजकुमार ए. कामदार, चेन्नई	१,०००
९. श्री वैभव भरतभाई कामदार, चेन्नई	१,०००
१०. श्रीमती शोभनाबेन दिनेशभाई शाह, चेन्नई	१,०००
११. श्रीमती गीताबेन दिलीपभाई शाह, चेन्नई	१,०००
१२. श्री सिद्धार्थ निमेश जी मेहता, चेन्नई	१,०००
१३. शाह रूपाजी रिखबदास जी, चेन्नई	१,०००
१४. श्री छगनराजजी भण्डारी, चेन्नई	१,०००
१५. श्री अरुण जैन, चेन्नई	५००
१६. श्री दिलीप भाई वेनचन्दजी दोशी, चेन्नई	२५०
१७. श्री दीपककुमारजी भायाणी, चेन्नई	२५०
१८. श्रीमती सुलभा बेन भण्डारी, चेन्नई	२५०
१९. श्री रविचन्दजी वी. शाह, चेन्नई	२००
कुल योग रुपयों में	१५,४५१